मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 21 ● वर्ष 3 अंक 2–3 ● अप्रैल–मई 2013 (संयुक्तांक) ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

मज़दूरों के ख़ून से तर है पूँजीवादी मुनाफ़े का एक-एक सिक्का

बंगलादेश में इमारत ढहने से 1100 से भी ज़्यादा मज़दूरों की मौत

बंगलादेश हो या भारत, मौत के साये में काम करते हैं मज़दूर

सुरक्षित कार्यस्थितियों के लिए एकजुट होकर लड़ना ही होगा!

● सम्पादकीय

● अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार दुनियाभर में हर साल लगभग 24 लाख मज़दूर दुर्घटनाओं के शिकार होते हैं

● भारत जैसे देशों में दुर्घटनाओं में मरने वालों की वास्तविक संख्या सरकारी आँकड़ों से कई गुना ज़्यादा

● हाथ-पैर कटने, घायल होने वालों की संख्या लाखों में

● आधा प्रतिशत से भी कम को मिल पाता है मुआवज़ा

● दुर्घटनाओं और बीमारियों से देश में हर मिनट में एक कामगार की मौत

पिछले 24 अप्रैल की सुबह हमारे पड़ोसी मुल्क बंगलादेश की राजधानी ढाका के एक औद्योगिक इलाक़े सावर में एक आठ मंज़िला विशाल इमारत ढह गयी। दो ही मिनट में, राना प्लाज़ा नाम का यह ढाँचा मलबे, मुड़ी-तुड़ी लोहे की छड़ों, मशीनों और कुचले हुए तथा मलबे में दबे शरीरों के एक पहाड़ में बदल गया। इस इमारत के निचले तले पर एक शॉपिंग सेण्टर था जो सुबह के वक़्त ख़रीदारों से खाली था। इसकी तीसरी से लेकर आठवीं मंज़िल तक पाँच गारमेण्ट फैक्टरियाँ चलती थीं जिनमें काम करने वाले हज़ारों मज़दूर सुबह 8 बजे की पाली में आकर काम शुरू कर चुके थे। इनमें से ज़्यादातर स्त्री मज़दूर थीं। जिस वक़्त इमारत गिरी उसमें पाँचों फैक्टरियों के कम से कम 3120 मज़दूर थे। 19 दिनों तक मलबे में दबे क्षत-विक्षत शवों की तलाश के बाद 13 मई को सरकार ने बताया कि मरने वालों की कुल तादाद 1127 है! सैकड़ों अन्य मज़दूर अब भी अस्पतालों में हैं, कितने ही ज़िन्दगी भर के लिए अपंग हो चुके हैं।

बंगलादेश के इतिहास में यह सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना है। कुछ लोग इसकी तुलना भोपाल गैस काण्ड से भी कर रहे हैं। लेकिन यह कोई अनहोनी नहीं है। बंगलादेश, भारत और पाकिस्तान में शायद ही कोई महीना ऐसा जाता हो जब कहीं कोई भयानक हादसा बड़ी संख्या में मज़दूरों को मौत के घाट न उतारता हो। अभी कुछ ही महीने पहले बंगलादेश में गारमेण्ट फैक्ट्री में आग से 150 मज़दूर मारे गये थे। उसके बाद पाकिस्तान के दो कारख़ानों में एक ही दिन लगी आग 300 से ज़्यादा मज़दूरों को लील गयी। बंगलादेश में इस घटना से पहले पिछले 3 वर्ष में आग लगने या इमारत गिरने से 1800 से ज़्यादा गारमेण्ट मज़दूरों की मौत हो चुकी है। इस मामले में भी भारत अपने इन दोनों पड़ोसियों से आगे है। शिवकाशी में आग से 250 मज़दूरों की मौत, जालन्धर में फैक्ट्री इमारत गिरने से 25 मज़दूरों की मौत, कोरबा में टावर गिरने से 80 मज़दूर मरे, दिल्ली में रिहायशी इमारत ढहने में 100 से अधिक मज़दूर मरे, पीरागढ़ी में चप्पल कारख़ाने में आग, लुधियाना और वाराणसी में ब्वायलर फटने की घटना – अभी हाल में हुई दुर्घटनाओं की फेहरिस्त ही इतनी लम्बी है कि

(पेज 16 पर जारी)

मई दिवस की क्रान्तिकारी विरासत से प्रेरणा लो!

राजनीतिक चेतना बढ़ाओ, संगठित हो, अपने पूरे हक़ के लिए आगे बढ़ो!

आज पूरी दुनिया का मज़दूर वर्ग पूँजी की ताक़तों के एकजुट हमले का सामना कर रहा है। दशकों के बहादुराना संघर्षों में जीते गये तमाम अधिकार एक-एक करके उससे छीन लिये गये हैं। भारत जैसे देशों में तो मज़दूरों की भारी आबादी काम के हालात और बर्बर शोषण के लिहाज़ से मानो सौ साल पीछे धकेल दी गयी है। लेकिन अब मज़दूरों ने प्रतिरोध और मुक़ाबला करना भी शुरू कर दिया है। मज़दूर वर्ग के सब्र का प्याला छलक रहा है और जगह-जगह मज़दूरों के गुस्से के विस्फोट से लेकर संगठित आन्दोलन तक की संख्या बढ़ती जा रही है। ऐसे में पूँजीवादी व्यवस्था की ओर से मज़दूरों को भरमाने-बरगलाने और पानी के छींटे मारकर शान्त करने का काण्ट्रैक्ट लेने वाले नकली वामपन्थी और उनकी यूनियनें भी काफी सक्रिय हो गयी हैं। देश की 45 करोड़ मज़दूर आबादी में से 93 प्रतिशत से भी अधिक असंठित मज़दूरों के बीच भी इनकी उछलकूद पहले से बहुत बढ़ गयी है। मज़दूर आन्दोलन को कुछ टुकड़े पाने के चक्कर में उलझाये रखने की अपनी कवायदें उन्होंने तेज़ कर दी हैं। ऐसे वक़्त में, मई दिवस की क्रान्तिकारी विरासत को याद करना और उससे आम मज़दूरों को परिचित कराना बेहद ज़रूरी है।

मई दिवस को अनुष्ठान बना देना मई दिवस के महान शहीदों का अपमान है। मई दिवस मज़दूरों के मक्कार, फ़रेबी, नक़ली नेताओं के लिए महज़ झण्डा फहराने, जुलूस निकालने, भाषण देने की एक रस्म हो सकता है, लेकिन वास्तव में यह उन शहीदों की क़ुर्बानियों को याद करने का मौक़ा है, जिन्होंने अपनी ज़िन्दगी देकर पूरी दुनिया के मज़दूरों को यह सन्देश दिया था कि उन्हें अलग-अलग पेशों और कारख़ानों में बँटे-बिखरे रहकर महज़ अपनी पगार बढ़ाने के लिए लड़ने के बजाय एक वर्ग के रूप में एकजुट होकर अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना होगा। काम के घण्टे कम करने की माँग उस समय की सर्वोपरि राजनीतिक माँग थी। मई दिवस दुनिया के मेहनतकशों के राजनीतिक चेतना के युग में प्रवेश करने का प्रतीक दिवस है।

आज इस बुनियादी बात को ही भुला दिया गया है। चुनावी पार्टियों के पिछलग्गू तमाम ट्रेडयूनियनबाज़ घाघ मदारी भी मई दिवस का परचम लहराते हैं जिनका काम ही मज़दूरों को महज़ दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाई में उलझाये रखकर अपना उल्लू सीधा करना है

(पेज 13 पर जारी)

मज़दूरों की सेहत से खिलवाड़ - आख़िर कौन ज़िम्मेदार 5
विदा कॉमरेड शालिनी, लाल सलाम 7
'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' पर संगोष्ठी की रिपोर्ट 8
मार्क्स - क्रन्तिकारियों के शिक्षक और गुरु 14

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

एक मज़दूर की आपबीती

जैक ग्रुप 293 प्राईवेट लिमिटेड उद्योग विहार, फेज-4, गुड़गाँव हरियाणा – कम्पनी के पहचान पत्र की यही पहचान होती है मगर मैं हीरो होण्डा चौक के पास सेक्टर-37 में स्थित इसकी कम्पनी में काम करता था। इस कम्पनी में लगभग 600 मज़दूर काम करते है और यहाँ लेदर के बैग बनते हैं। ठेकेदार सतीश की तरफ से इस कम्पनी में मेरी तनख्वाह 4500 रुपये महीने तथा 25 रुपये घण्टा ओवरटाईम था। लगभग तीन महीने तो मुझे जबर्दस्ती ओवर टाईम व नाईट लगानी पड़ी जिससे तनख्वाह सात-आठ हजार तक बन जाती थी। मगर फिर दीपावली के टाईम पर काम में अचानक मन्दी आ गई। कई मज़दूरों को 15 दिन का जबर्दस्ती रेस्ट दिया गया; जिसमें एक मैं भी था और सूनी रही दीवाली न बोनस मिला, न मिठाई का डिब्बा। फिर काम जोर पकड़ा और ठेकेदार ने सबको फोन करके बुला लिया। मैं भी सारे गम भूलाकर फिर से लग गया। एक महीने बाद फिर काम बन्द हो गया और फिर 15 दिन का रेस्ट दे दिया गया और कुछ नहीं मिला। 15 दिन खाली बैठना पड़ा। बहुत गुस्सा आया मगर मैं कुछ नहीं कर सका क्योंकि निकाले तो बहुत गये थे; कोई रास्ता किसी के पास न था। दबी आवाज़ में एक ने कहा भी चलो हम सब मिलकर उससे (ठेकेदार) पूछते है कि ऐसा करने का तुमको क्या अधिकार बनता है? मगर साहस न हुआ किसी को। सब एकदूसरे का मुँह ताक रहे थे कि कोई आगे चल पड़े। किसी की हिम्मत न पड़ी क्योंकि सबको डर था कि कहीं मेहनत का पैसा भी न डूब जाये। और करीब 15-20 मज़दूरों ने तनख्वा लेकर काम छोड़ दिया; जिसमें एक मैं भी था। फिर कल ठेकेदार सतीश का फोन आया कि आजा काम दबाकर चल रहा है तब मैंने फोन पर अपने दिल की भड़ास निकाली।

– एक मज़दूर, गुड़गाँव

एक छोटी सी जीत

मैं जितेन्द्र मैनपुरी (यू.पी.) का रहने वाला हूँ। मुझे गुड़गाँव आये 4 महीने हुए है और मैं गुड़गाँव पहली बार आया हूँ। हम अपने परिवार के तीन लोग साथ में है और तीनों एक ही फैक्ट्री ओरियण्ट कॉफ्ट, 7 पी सेक्टर-34 हीरो होण्डा चौक गुड़गाँव में चार महीने से काम कर रहे है। वैसे तो इस फैक्ट्री में कोई संगठन या एकता नहीं है। और न ही हो सकती है क्योंकि करीब 6 से 7 ठेकेदार के माध्यम से हेल्पर, कारीगर, प्रेसमैन, एक्पॉटर वगैरह भर्ती होते हैं जिनकी माँगे अलग है, काम अलग है और एक-दूसरे से कोई वास्ता नहीं है। मगर फिर भी एक छोटी सी जीत की खुशी तो होती ही है। ठीक इसी प्रकार बड़े पैमाने पर मज़दूर साथी लड़े तो हम सबकी ज़िन्दगी ही बदल जाये।

घटना कुछ इस प्रकार है कि फरवरी महीने में हेल्पर का ग्रेड 4967 रु. से बढ़कर 5212 रु. हो गया जिसके आधार पर सभी मज़दूरों का पी.एफ. काटा गया लेकिन सभी को भुगतान 4967 रु. के हिसाब से किया गया। हम रजनीश ठेकेदार के पास काम करते हैं जिसके कि इस फैक्ट्री में (स्त्री व पुरुष) 45 मज़दूर है। 11 मार्च को सभी महिलाओं का 4967 रु. के हिसाब से भुगतान हो गया। तीन-चार पुरुष मज़दूरों का भी हो गया। हम लोगों ने माँग की, कि हमको 5212 रु. के हिसाब से तनख्वा दो। सुपरवाईजर राज ने देने से मनाकर दिया। हम आठ लोगों ने मिलकर सलाह की जिसमें एक 'बिगुल मज़दूर दस्ता' संगठन से सम्पर्क में थे। उन्होंने सलाह दी कि महीने भर की तनख्वा पहले ले ली जाये जिससे समस्या ज्यादा न बढ़े और फिर बढ़े हुए ग्रेड की माँग की जाये। ठेकेदार पुराने ग्रेड के हिसाब से तनख्वा देने को तैयार था। हम लोगों ने नये ग्रेड के लिए अपने और भी मज़दूर साथियों से बात की; वो भी साथ आ गये। लड़ते हुए पहले पुराने ग्रेड से हिसाब ले लिया और नये ग्रेड के लिए संघर्ष करते रहे (हल्ला हंगामा करते रहे, कार्मिक विभाग 'पर्सनल' में जाते रहे, 10-15 जो भी थे काम छोड़कर अन्दर ही मीटिंग करते रहे) ठेकेदार का सुपरवाईजर भी इन 15-20 में से 1-2 अगुवा मज़दूरों को पहचान गया और उनका हाथ पकड़कर गेट बाहर करने लगा। मगर हम सब में यही बात हुई थी कि एक अकेला कुछ भी नहीं कर पायेगा। जो भी बोलना सबको मिलकर बोलना होगा। सब साथ रहेंगे तभी एक उम्मीद है कि बढ़ा हुआ पैसा मिल जाये। और यही हुआ। जब सुपरवाईजर उनको बाहर करने लगा तो बाकी हम सब भी बोलते हुए साथ चलने लगे। पूरी पहली मंजिल के 100-150 लोग खड़े होकर तमाशा देखने लगे और आखिर सुपरवाईजर सफल न हो पाया और अगले ही दिन 14 तारीख को ठेकेदार रजनीश (जो कि कभी नहीं आता) आया और कम्पनी का एक अधिकारी भी आया और सभी स्त्री व पुरुष मज़दूरों को केबिन में बुलाया गया। अभी तक जो पाँच-छह लोग बचे थे उनको बढ़े हुए ग्रेड 5212 रु. से हिसाब मिला और बाकी जिनका तीन सौ, पाँच सौ या हज़ार जो भी बनता, वो अगले महीने देने का वायदा किया।

– जितेन्द्र, गुड़गाँव

कैसा है ये संविधान... (पेज 11 से आगे)

विकेन्द्रीकरण का स्वांग रचना शुरू किया। 1992 में संविधान का 73 वाँ और 74 वाँ संशोधन संसद द्वारा पारित हुआ। इन संशोधनों द्वारा क्रमशः गाँवों में पंचायतों तथा शहरों में म्यूनिसिपैलिटी को संवैधानिक दर्ज़ा देते हुए भारतीय संघ में तीसरे संस्तर के निर्माण की ढींगे हाँकी गयीं और जोर-शोर से यह प्रचारित किया गया कि इस 'क्रान्तिकारी कदम' से सत्ता जनता के क़रीब पहुँचेगी। परन्तु इन संशोधनों के पारित होने के दो दशकों बाद आलम यह है कि सत्ता तो जनता तक नहीं पहुँची बल्कि गाँवों और शहरों के स्थानीय कुलीनों को लूट का एक हिस्सा देकर भारतीय राज्य सत्ता ने अपने सामाजिक अवलंबों का अवश्य विस्तार किया। मनरेगा जैसी स्कीमों में व्याप्त जबर्दस्त भ्रष्टाचार इसी सच्चाई को दिखाता है। इन संशोधनों के बाद भी भारतीय राज्य का केन्द्रीयकृत स्वरूप बरकरार है और केन्द्र ने बड़ी ही चालाकी से राज्यों के कुछ अधिकारों को स्थानीय निकायों में हस्तांतरण कर स्थानीय कुलीनों को संतुष्ट कर अपने एकात्मक ढाँचे को कुल मिलाकर अक्षुण्ण ही रखा है। इस तथाकथित सत्ता के विकेन्द्रीकरण से जनता को तो कुछ लाभ नहीं हुआ, हाँ केन्द्रीय ढाँचे की कुल लूट का एक हिस्सा स्थानीय स्तर के लुटेरों तक अवश्य पहुँचा है जिसका प्रमाण ग्राम प्रधानों और पार्षदों की बढ़ती हुई धन-सम्पदा के रूप में सामने आ रहा है।

(अगले अंक में: कश्मीर और उत्तर-पूर्वी राज्यों की जनता के साथ भारतीय संघ का ऐतिहासिक विश्वासघात)

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं व स्थितियों के बारे में, अपनी सोच के बारे में लिखकर हमें भेजिये। आपको 'बिगुल' कैसा लगता है, इसमें क्या अच्छा लगता है और क्या कमियाँ नज़र आती हैं, इसे और बेहतर कैसे बनाया जा सकता है – इन बातों पर भी आपकी राय जानने से हमें मदद मिलेगी। आप नीचे दिये पते पर हमें पत्र लिख सकते हैं या बिगुल कार्यकर्ता साथी को ज़ुबानी भी बता सकते हैं।– सम्पादक मण्डल

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

आप इस वेबसाइट पर जाकर भी बिगुल की सामग्री पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं या कोई रिपोर्ट आदि हमें भेज सकते हैं।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **114, जनता मार्केट, रेलवे स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09971158783**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।"
– लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये। सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928

ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति – रु. 5/-
वार्षिक – रु. 70/- (डाक खर्च सहित)

नोएडा के निर्माण मज़दूरों पर बिल्डर माफिया का आतंकी कहर

नोएडा की गिनती उन स्थानों में होती है जिनको "उभरते हुए" और "चमकते दमकते" भारत का गढ़ कहा जाता है। जगमगाते शॉपिंग मॉल, विश्व-स्तरीय एक्सप्रेसवे, फ्लाईओवर, एफ-वन इंटरनेशनल सर्किट, लक्जरी अपार्टमेंट, विला ये सभी भारत की तरक्की के प्रतीक माने जाते हैं और नोएडा में ये सब देखे जा सकते हैं। पिछले दो दशकों से मुख्य धारा का कॉरपोरेट मीडिया उदीयमान शहरी उच्च मध्य वर्ग को इस तरक्की की दास्तान सुनाकर लम्बे-चौड़े सपने दिखा रहा है, मिसाल के लिए सुख सुविधासम्पन्न अपने घर का सपना। परन्तु, सोचने की बात है कि जिन मज़दूरों की हाड़तोड़ मेहनत से इस तथाकथित विकास की अट्टालिका का निर्माण होता है उनकी दास्तान मीडिया में कहीं नहीं सुनायी देती। मज़दूर खबरों में तभी आते हैं जब कहीं कोई दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटती है और निहायत ही बेशर्मी से बिना किसी तहकीकात के उनको ज़िम्मेदार ठहरा दिया जाता है। ऐसी ही एक घटना 28 अप्रैल को नोएडा के एक निर्माणाधीन साइट पर हुई जिसमें सिक्योरिटी गार्डों ने मज़दूरों पर गोली चला दी जिससे कुछ मज़दूर जख्मी हो गये।

28 अप्रैल की सुबह नोएडा के सेक्टर 110 में स्थित थ्री सी लोटस पनाश कम्पनी की निर्माणाधीन साइट के मज़दूरों ने कम्पनी प्रबन्धन के बर्बर आतंक राज का मुज़ाहिरा देखा। उस दिन 8 बजे से चालू होने वाली सुबह की शिफ्ट में जब मज़दूर काम पर पहुँचे तो वहां उन्हें गेट में अन्दर जाने के लिए बहुत लम्बी लाइन में खड़ा होना पड़ा। इसका कारण यह था कि गेट पर मौजूद सिक्योरिटी गार्ड एक-एक मज़दूर की सघन सुरक्षा जाँच और एन्ट्री करवाने में काफी समय लगा रहे थे। मज़दूरों ने गार्डों की ढिलाई का विरोध किया क्योंकि काम पर एक मिनट भी देर से पहुँचने पर उन्हें सुपरवाइजर की डाँट और गालियाँ सुननी पड़ती हैं। इसी बात पर गार्डों और मज़दूरों के बीच कहासुनी हो गई और देखते ही देखते गार्डों ने मज़दूरों पर ताबड़तोड़ गोलियाँ चला दीं। मीडिया की ख़बरों के अनुसार दो मज़दूर जख्मी हुए। परन्तु जब बिगुल मज़दूर दस्ता की एक टीम निर्माणाधीन साइट से लगी मज़दूर बस्ती गयी तो वहाँ कुछ मज़दूरों ने बताया कि जख्मी मज़दूरों की संख्या चार तक हो सकती है जिनमें से एक की हालत गम्भीर है और उसकी ज़िन्दगी खतरे में है। जिला अस्पताल के रिकार्ड के अनुसार केवल एक ही मज़दूर वहां भर्ती हुआ। अन्य मज़दूर किसी निजी अस्पताल में भर्ती किये गये।

पूछताछ करने पर मज़दूरों ने बताया कि सिक्योरिटी गार्ड और सुपरवाइजर आम तौर पर मज़दूरों से गाली-गलौज की ही भाषा में बात करते हैं। कुछ मज़दूरों का कहना था कि ठेकेदार ने पिछले तीन महीने से मज़दूरों का वेतन रोक रखा है। मज़दूरों ने बताया कि उस साइट पर एक अकुशल मज़दूर की दिहाड़ी 140 से 150 रुपये है और कुशल मज़दूरों की 250 रुपये। जब बिगुल मज़दूर दस्ता की टीम ने उनसे कहा कि यह तो सरकार द्वारा तय की गई न्यूनतम मज़दूरी से भी कम है (जो अपनेआप में बेहद कम है), तो मज़दूरों का कहना था कि वे जब भी दिहाड़ी बढ़ाने की माँग करते हैं, ठेकेदार कहता है कि इसी दिहाड़ी पर काम करने वाले मज़दूरों की कोई कमी नहीं है और यदि उन्हें इसी मज़दूरी पर काम करना है तो करें वरना कहीं और काम ढूँढ लें। मज़दूरों की हालत तो और भी खस्ता है। उन्हें पुरुष मज़दूरों के मुकाबले कम मज़दूरी मिलती है। उनके बच्चों के लिए शिशुघर की कोई व्यवस्था न होने के कारण कई स्त्री मज़दूर अपने बच्चों के साथ काम पर जाती हैं।

जिस बस्ती में मज़दूर रहते हैं उसके हालात नरकीय हैं। इस बात की कल्पना करना मुश्किल है कि टिन के शेड से बनी इस अस्थायी बस्ती में मज़दूर कैसे रहते हैं। मुर्गी के दरबों जैसे कमरों में एक साथ कई मज़दूर रहते हैं और उनमें से कई अपने परिवार के साथ भी रहते हैं। बस्ती में पीने के पानी की कोई व्यवस्था नहीं है। मज़दूरों को पानी खरीद कर पीना पड़ता है। बिजली भी लगातार नहीं रहती। शौचालय के प्रबन्ध भी निहायत ही नाकाफी हैं और समूची बस्ती में गन्दगी का बोलबाला है। नाली की कोई व्यवस्था न होने से बस्ती में पानी जमा हो जाता है और बरसात में तो हालत और बदतर हो जाती है। यही नहीं, जैसे ही यह प्रोजेक्ट पूरा हो जायेगा, इस बस्ती को उजाड़ दिया जायेगा और मज़दूरों को इतनी ही ख़राब या इससे भी बदतर किसी और निर्माणाधीन साइट के करीब की मज़दूर बस्ती में जाना होगा।

मज़दूरों के इस नग्न शोषण की दास्तान मुख्यधारा की कॉरपोरेट मीडिया में देखने को नहीं मिलतीं। जैसा कि अक्सर होता है, इस मामले में भी स्थानीय और राष्ट्रीय मीडिया ने मज़दूरों की व्यथा को नजरअन्दाज कर सिर्फ मज़दूरों की तोड़फोड़ की कार्रवाई पर ही ध्यान केन्द्रित किया जो उन्होंने पुलिस की निर्लज्ज अकर्मण्यता से आज़िज़ होकर गुस्से में की थी। मज़दूरों के अनुसार जब सिक्योरिटी गार्ड गोली चला रहे थे तो पुलिस वाले पास में ही थे, परन्तु उन्होंने कुछ नहीं किया। कोई और रास्ता न देखकर जब मज़दूरों ने गुस्से में आकर तोड़ फोड़ करनी शुरू की तो एक भारी पुलिस बल और पीएसी की बटालियन वहाँ फौरन पहुँच गयी और गुस्साये मज़दूरों को काबू में किया और सिक्योरिटी गार्डों को बचाकर अपने साथ ले गई। मज़दूरों का कहना है कि पुलिस ने बाद में गार्डों को छोड़ दिया क्योंकि अगले ही दिन उनमें से कुछ गार्ड साइट के आसपास देखे गये। जबकि मज़दूर बस्ती को चारों ओर से घेरकर उसे पुलिस छावनी में तब्दील कर दिया गया मानों वहाँ मज़दूर नहीं गुण्डे और अपराधी रहते हों।

ज़ाहिर है कि इस पूरी घटना के लिए मज़दूरों को ही ज़िम्मेदार ठहराने के लिए पुलिस मशीनरी की कन्स्ट्रक्शन कम्पनी के प्रबन्धन के साथ मिलीभगत है। इस प्रकार रियल इस्टेट माफिया का आतंक राज पुलिस की मदद से बेरोकटोक जारी है और मज़दूर शोषण और उत्पीड़न की चक्की में पिसे जा रहे हैं पूँजीवादी विकास की देवी की भेंट चढ़ते जा रहे हैं। यह घटना एक बार फिर यह दिखाती है कि भारतीय शासक वर्ग द्वारा मध्य वर्ग को दिखाये जा रहे सपनों की अट्टालिका की नींव मज़दूरों के खून और नरकंकालों से पटी हुई है।

जीने के नारकीय हालात को बयान करते निर्माणाधीन साइट से लगी मज़दूर बस्ती के दृश्य

– आनन्द सिंह

निर्माण क्षेत्र में मन्दी और ईंट भट्ठा मज़दूर

दिल्ली के करावल नगर इलाके के लगभग हर लेबर चौक पर आजकल खड़े होने वाले मज़दूरों को मुश्किल से ही काम मिल पाता है। निर्माण मज़दूरों की रिहायश हरिजन बस्ती से लेकर राम स्वरूप चक्की तक निर्माण मज़दूरों की लॉजें खाली हैं। ज़्यादातर मज़दूर घर चले गये हैं और जो बचे हैं वे मुश्किल से काम पा रहे हैं। मज़दूरों से बात करने पर पता चला कि आजकल यही हाल बिहार में भी है। दरअसल यही हाल देश के हर हिस्से में है। गुजरात से लेकर तमिलनाडु लगभग हर जगह मकान निर्माण से जुड़े मज़दूर बेरोजगार हो रहे हैं। जिसे काम मिल पाता है उसमे भी मालिक अधिक मोलभाव कर लेता है। इसके पीछे कारण है कि देश भर में कई ईंटे बेचने वाले भट्ठे बन्द हैं और जो चल रहे हैं वे बेहद महँगी ईंटें बेच रहे हैं। पंजाब से लेकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा, गुजरात के भट्ठों में ईंटो का कारोबार ठप्प पड गया है क्योंकि फरवरी 2012 में सुप्रीम कोर्ट के एक फैसले के अनुसार अब भट्ठा मालिकों को खेत की सतह से 5 फुट मिटटी (जो कि उपजाऊ होती है) से ईंट बनाने के लिए राज्य सरकार से पंजीकरण लेना होगा। यह पंजीकरण बेहद कम भट्ठा मालिकों को मिलेगा और इसका दाम भी ऊँचा रखा गया है। सुप्रीम कोर्ट ने पर्यावरण के क्षरण को कारण बताते हुए यह कदम उठाया है परन्तु असलियत तो यह है कि 4000 करोड़ के इस व्यापार का मानकीकरण किया जा रहा है जिससे कि बड़ी पूँजी आसानी से इस क्षेत्र में प्रवेश कर सके। उन्नत विदेशी तकनीक पर आधारित नये ईंट प्लांट अभी से ही देश में खड़े होने लगे हैं। 2011 तक देश में करीब 35 ऐसे प्लांट थे जहाँ आधुनिक संसाधन सक्षम ईंट (आरईबी) का उत्पादन किया जा रहा है। जहाँ तक छोटी पूँजी का सवाल है देश भर में छोटे-बड़े सबको मिलाकर 1,40,000 भट्ठे हैं जिनमे करीब 40-50 लाख

ईंट बनाने वाले मज़दूर कार्यरत थे जो अब दूसरे क्षेत्रों में खपने लगे हैं। परन्तु यही पूँजीवाद का आम नियम है – बड़ी पूँजी हमेशा छोटी पूँजी को खा जाती है और इसको व्यवस्था के स्तम्भ – न्यायपालिका, सरकार, नौकरशाही और मीडिया ही निगलने की प्रक्रिया की योजना बनाते और उसका आधार तैयार करते हैं। भले ही फौरी तौर पर निर्माण कार्य में मन्दी आये और ईंटो के दाम 5-6 गुने बढ़ गये हो, तमाम मज़दूर बेरोजगार हों फिर भी यह होना ही है, क्योंकि इस व्यवस्था का मूल सिद्धान्त गलाकाटू प्रतियोगिता है। ईंट उत्पादन में भारत दुनिया में दूसरे नम्बर पर है, 250 लाख टन कोयला की खपत के साथ देश भर में एक साल में लगभग 200 अरब ईंटे बनाने वाले इन मज़दूरों की ज़िन्दगी नारकीय है। भट्ठा मज़दूर सबसे अमानवीय हालात में काम करने को मजबूर होते हैं। इनमें से अधिकतर मज़दूरों से भट्ठा मालिक गुलामो की तरह काम कराते हैं। देश भर से कई ऐसी घटनाएँ सामने आयीं हैं जहाँ भट्ठा मालिकों ने मज़दूरों को आग में झोंककर मार दिया। न तो ईंट मज़दूरों के बच्चे पढ़ ही पाते हैं और ज़्यादातर की किस्मत में इसी उद्योग में खपना लिखा होता है। भट्ठों में बिना किसी सुरक्षा साधन या मास्क के 7000-10000 डिग्री तापमान में काम करने से मज़दूर को फेफड़ों से लेकर आँख की बीमारियाँ होती हैं। ज़्यादातर प्रवासी मज़दूर यहाँ बारिश के मौसम को छोड़कर सालभर काम में लगते हैं। बच्चे से लेकर औरतें सभी को ये भट्ठे निगल जाते हैं। यह कार्य हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु, बंगाल से लेकर लगभग हर जगह फैला हुआ है। परन्तु अब बड़े कारोबारियों के इस क्षेत्र में उतरने पर कई छोटे भट्टे बर्बाद होंगे और भट्ठों में कार्यरत मज़दूरों को दूसरे क्षेत्रों में खपना होगा। चाहे फौरी तौर पर यह भट्टा मज़दूरों को शहरो और अन्य जगह पर काम ढूँढने को मजबूर करे पर अगर पूरे मज़दूर वर्ग के दृष्टिकोण से देखा जाये तो पूरे उद्योग का मानकीकरण और मशीनीकरण एक प्रगतिशील कदम है। यह इस क्षेत्र के मज़दूरों का राजनीतिक स्तरोनयन करेगा। आधुनिक मशीनों से ईंट बनाने वाला वर्ग सचेत मज़दूर होगा जो अपना दुश्मन सिर्फ भट्ठे के मालिक को नहीं परन्तु उत्पादन प्रणाली को ठहराने में अधिक सक्षम हो जाता है। भट्ठों में जानवरों जैसे खटने वाले मज़दूरों को भी अन्य काम देखना होगा।

– सनी

मंगोलपुरी की घटना ने फिर साबित किया कि आज न्याय, इंसाफ़ और सुरक्षा सिर्फ अमीरज़ादों के लिए ही है!

दिल्ली में 28 फरवरी को मंगोलपुरी के नगर निगम स्कूल में दूसरी कक्षा में पढ़ने वाली सात साल की बच्ची के साथ स्कूल परिसर में हुई बलात्कार की शर्मनाक घटना ने दिल्ली में सुरक्षा दुरुस्त करने के दिल्ली सरकार व निगम प्रशासन के दावों की पोल खोल दी। इस शर्मनाक घटना के बाद पुलिस और प्रशासन ने आरोपी को पकड़ने का दिखावा करते हुए जो कार्रवाई की उससे भी साफ हो गया कि इस व्यवस्था में ग़रीबों के लिए क़ानून, न्याय और इंसाफ जैसी चीज का कोई खास मतलब नहीं है। इस व्यवस्था का चरित्र इससे भी पता चलता है कि पिछले साल 16 दिसम्बर को एक पैरामेडिकल छात्रा के साथ हुई बलात्कार की जघन्य घटना के बाद सारे सुरक्षा के इन्तज़ाम उन स्कूलों या कॉलोनियों में किए गये जहाँ शहर के खाते-पीते घरों के लोग रहते हैं। जिन सरकारी स्कूलों में ग़रीबों-मज़दूरों के बच्चे पढ़ते हैं, जिन कच्ची कॉलोनियों में ये लोग रहते हैं या जिन फैक्टरियों में मज़दूर महिलाएँ काम करने जाती हैं, वहाँ ये सुरक्षा के इन्तज़ाम सिर्फ कागज़ों में होते हैं।

ऐसी शर्मनाक घटना के बाद भी प्रशासन का रवैया आमतौर पर मज़दूरों को ही दोषी ठहराने वाला होता है। जैसे इस घटना में हुआ अस्पताल द्वारा बलात्कार की पुष्टि के बाद 1 मार्च को जब लड़की के पिता स्कूल प्रशासन से इस घटना के सम्बन्ध में मिले तो प्रशासन का कहना था कि यह घटना हमारे स्कूल में हुई ही नहीं है; कहीं बाहर हुई होगी। लड़की के पिता ने उसी समय इस घटना की प्राथमिकी दर्ज कराने के लिए पुलिस को सूचित किया गया। पुलिस आयी तो पर मामला दर्ज करने के लिए टालमटोल करती रही। स्कूल प्रशासन और पुलिस के इस रवैये से लोग भड़क गये और उन्होंने वहाँ दोनो का विरोध करना शुरू कर दिया। बस इतने पर ही वहाँ जमकर लाठी चार्ज किया गया और पुलिस ने अपनी तत्परता दोषी को पकड़ने की बजाय इस घटना के ख़िलाफ़ विरोध करने वाले युवाओं को गिरफ्तार करने में ज़्यादा दिखायी। लोगों के इस विरोध के बाद पुलिस ने तुरन्त एफ. आई.आर. दर्ज कर ली। हर बार की तरह ऐसी किसी घटना के बाद एक जाँच समिति गठित कर दी गयी है। निगम प्रशासन ने लोगों के दबाव में अगले दिन ही प्रिंसिपल समेत पाँच कर्मचारियों को निलम्बित कर दिया। घटना की सूचना मिलते ही मज़दूर बिगुल अखबार और बिगुल मज़दूर दस्ता से जुड़े कार्यकर्ता इलाके में पहुँचे तो पता चला कि पुलिस ने उस लड़की और उसके माता-पिता को अपने थाने में बैठा रखा है। मीडिया या सामाजिक कार्यकर्ताओं से उनके मिलने पर रोक लगा रखी थी। इसका एक कारण तो पुलिस द्वारा पीड़ित लड़की से दोषी के सन्दर्भ में बातचीत करना था; दूसरा यह था कि इस घटना के सन्दर्भ में लड़की के माता-पिता दोनो के बयान प्रशासन के विरोध में आ रहे थे और प्रशासन नहीं चाहता था कि ऐसी कोई भी बात बाहर आये। इसीलिए घटना के बाद तीन-चार दिन तक बच्ची और उसके अभिभावकों को सुबह से शाम तक थाने में बैठाकर रखा जाता था।

इस घटना के बाद मंगोलपुरी की इस झुग्गी-झोपड़ी कॉलोनी में पुलिस गश्त बढ़ गई और शक के आधार पर यहीं के लोगों को गिरफ्तार करने लगी। इलाके के कई लड़कों को इस घटना के विरोध में तोड़-फोड़ करने के जुर्म में पहले ही गिरफ्तार कर रखा था। इस सब से पूरे इलाके में एक डर का माहौल था। कोई भी प्रशासन के खिलाफ कुछ बोलने से डर रहा था। बिगुल मज़दूर दस्ता और नौजवान भारत सभा की अगुवाई में दिल्ली के सरकारी स्कूलों की बदहाल स्थिति को बदलने के उद्देश्य से चलाये जा रहे 'स्कूल बचाओ अभियान' की ओर से लोगों को एकजुट करने के लिए 'हमारे बच्चों के साथ ही क्यों होती है मंगोलपुरी जैसी घटनाएँ' शीर्षक से एक पर्चा भी इलाके में बाँटा गया।

नगर निगम प्रशासन ने इस घटना की जाँच करने वाली समिति को पाँच दिन में अपनी रिपोर्ट सौंपने को कहा था। हम लोगों को पीड़ित लड़की के रिश्तेदारों से पता चला कि पुलिस प्रशासन दबाव बना रहा कि वे लोग अपने इलाके के किसी भी व्यक्ति का नाम ले दें; उसे दोषी भी सिद्ध कर दिया जायेगा। ताकि इस मामले को जल्दी निपटाया जा सके। हालाँकि उनके द्वारा ऐसा न करने पर अगले दिन कुछ अखबारों में यह छपा कि निगम की रिपोर्ट के मुताबिक यह घटना स्कूल में हुई ही नहीं है। सच्चाई जनाने को लिए बिगुल अखबार के संवाददाता इस लड़की के अभिभावकों और कॉलोनी के लोगों के साथ इस इलाके के थाने के एस. एच.ओ. से मिले तो उनका जबाव टरकाने वाला ही था कि अभी जाँच चल रही है। जाँच के नाम पर कुछ लड़कों को पुलिस ने लड़की के सामने बुलाया गया था; जबकि स्वयं लड़की की मदद से बनाये गये व्यक्ति के स्कैच से यह साफ था कि दोषी कोई बड़ी उम्र का आदमी है। कुल मिलाकर पुलिस जाँच के नाम पर कुछ लीपा-पोती करने में लगी रही। घटना के लगभग दो महीने के बाद भी प्रशासन दोषी को पकड़ने में नकाम है; इसका एक मुख्य कारण यही है कि पीड़ित लड़की मज़दूर परिवार से ताल्लुक रखती है।

इस तरह के मामले में प्रशासन उस स्कूल में थोड़ी बहुत सुरक्षा बढ़ाने का दिखावा कर रहा है। लेकिन नगर निगम और राज्य सरकार के अन्य स्कूलों में ऐसी घटनाएँ न हों, क्या इसके कोई इन्तज़ाम किये जायेंगे? वर्तमान सच्चाई यही है कि नगर निगम के स्कूलों के गेटों पर न तो कोई गार्ड बैठते हैं और न ही उनके बाहर पुलिस की कोई मौजूदगी होती है। कोई भी इनमें आ-जा सकता है। इन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे आये दिन ग़ायब होते हैं, अगवा कर लिये जाते हैं जिनमें से कई को मानव अंगों के व्यापार से लेकर यौन उत्पीड़न के नर्क में धकेलने की ख़बरें आती रही हैं। दिल्ली में स्कूलों के बच्चों के साथ हुई यह पहली घटना नहीं है। दिल्ली से हर रोज 18 बच्चे गायब होते है; जिनमें अधिकतर लड़कियाँ होती हैं। पिछले वर्ष राजधानी में सौ से अधिक छोटी बच्चियों के साथ बलात्कार हुआ था। 2009 में उत्तर-पूर्वी दिल्ली के खजूरी इलाके के राजकीय उच्चतम विद्यालय में प्रशासन की लापरवाही के कारण ही भगदड़ में पाँच लड़कियों को जान गँवानी पड़ी थी। जो गिरोह बच्चों की तस्करी में लगे होते हैं, उनकी स्थानीय प्रशासन से ऊपर तक पूरी मिलीभगत होती है। ऐसा नहीं है कि प्रशासन को इनकी जानकारी नहीं है। सरकारी स्कूलों के बाहर ही बच्चों को अलग-अलग तरह के नशे बेचने का धन्धा भी किया जाता है।

नगरनिगम, विधानसभा से लेकर संसद तक मौजूदा सरकारें समाज के धनी वर्गों की सेवा करती हैं। अमीरज़ादों के लिए बनाये गये सरकारी और निजी स्कूलों में सुरक्षा के सारे इन्तज़ाम हैं। जबकि ग़रीबों के बच्चों को बुनियादी सुरक्षा भी स्कूलों में नहीं दी जाती है, कि उनका जीवन सुरक्षित रहे। और तो और, ऐसी किसी घटना के बाद गरीब लोगों को आमतौर पर इंसाफ मिल ही नहीं पाता है। मंगोलपुरी की इस घटना के बाद प्रशासन का जो रवैया रहा उसने यही साबित किया कि मौजूदा व्यवस्था में न्याय, इंसाफ और सुरक्षा सिर्फ अमीरज़ादों के लिए ही है; जबकि मज़दूरों के लिए ये सिर्फ कागज़ी बातें है। मेहनतकश लोग अगर सच्चे मायनों में अपने और अपने बच्चों के लिए न्याय, इंसाफ और सुरक्षा चाहते हैं तो उन्हें मुनाफ़े पर टिकी मौजूदा व्यवस्था के ख़ात्मे के बारे में सोचना होगा।

– योगेश

वज़ीरपुर में 'गरम रोला मज़दूर एकता समिति' के नेतृत्व में हड़ताल

पिछले दिनों वजीरपुर के गरम रोला मज़दूरों ने जुझारू हड़ताल कर मालिकों को अपनी माँगों पर झुका दिया। 10 से 16 अप्रैल तक चली इस हड़ताल की उपलब्धि यह रही कि मज़दूरों ने खुद को 'गरम रोला मज़दूर एकता समिति' में संगठित कर लिया है। लम्बे समय से गरम रोलर के अन्दर लोहे की प्लेटों को तपाकर शीट बनाने वाले मज़दूरों ने भट्टीनुमा कारख़ानों में सस्ती मज़दूरी पर जानवरों की तरह खटने के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द की है। आज के दौर में यह संघर्ष महत्वपूर्ण है। जहाँ हर जगह मज़दूरों के संघर्षों को कुचला जा रहा है वहाँ यह छोटी जीत भी बहुत मायने रखती है।

वजीरपुर दिल्ली के बड़े धातु उद्योग इलाको में से एक है। इस इलाके में करीब छोटी-बड़ी 700-800 कम्पनियाँ हैं जिनमें हज़ारो मज़दूर खटते हैं। गरम रोलर, ठंडा रोलर, पोलिश, सर्किल से लेकर प्लास्टिक व अन्य छोटी-बड़ी फैक्टारियों में 40-50 से लेकर 150-200 मज़दूर कार्यरत हैं। मज़दूर बिना किसी सुरक्षा उपकरण के 12-14 घण्टे भट्टियों पर काम करते हैं। गरम रोला कारखाने में हजार डिग्री से ऊँचे तापमान पर काम करने के कारण मज़दूरों को हर आधो घंटे में कारखाने से बाहर आना पड़ता है। लगभग हर घंटे इन्हें 1 बोतल पानी पीना पडता है। लगभग हर मज़दूर की त्वचा यहाँ काम करते हुए जल जाती है। इन्ही नारकीय परिस्थितियों में अपना खून और पसीना जलाकर मज़दूरों ने मालिको की तिजोरियां भरी हैं।

हड़ताल का घटनाक्रम

वजीरपुर इलाके में सक्रिय केन्द्रीय यूनियन यूटीयूसी (उटुक) का अवसरवादी नेतृत्व लम्बे समय से मालिकों की दलाली कर रहा था परन्तु इस बार अवसरवादी नेतृत्व को किनारे कर गरम रोला मज़दूरों ने अपनी समिति बनायी जिसके अध्यक्ष एक मज़दूर रामदरश चुने गये। सामाजिक कार्यकर्ता रघुराज भी इस पूरे संघर्ष में मज़दूरों को संगठित करने का काम करते रहे।

10 तारीख से 26 फैक्टरियो के मज़दूर अनिश्चितकालीन हड़ताल पर गये और श्रम कार्यालय में जाकर अपनी माँगों का ज्ञापन सौंपा। इसमें न्यूनतम मज़दूरी और ईएसआई लागू करने की प्रमुख माँग थी। मज़दूर इलाके के ऊधमसिंह पार्क में धरना दे रहे थे। तभी से ही बौखलाए मालिक पुलिस के साथ मिलकर मज़दूरों के धरने को तोड़ने में जुट गये। 15 अप्रैल को पुलिस धरने से मज़दूरों को जबरन हटाने लगी। मज़दूरों को पीछा न हटता देख पुलिस समिति के नेतृत्व के साथियो को पकड़ कर ले जाने लगी तो मज़दूरों ने पुलिस थाने तक रैली निकालकर पुलिस के खिलाफ़ नारेबाज़ी की जिससे मजबूरन उन्हें मज़दूर नेताओं को छोड़ना पडा। 15 तारीख को ही मज़दूरों ने फिर श्रम आयुक्त का घेराव किया और अपना

एक मांगपत्रक सौंपा जिसमे काम के घंटे 8 करने, न्यूनतम वेतन लागू करने और ईएसआई लागू करवाने की माँगें थीं। श्रम आयुक्त ने 17 तारीख को असिस्टेंट लेबर कमिशनर द्वारा कारखानों की जाँच करवाने का आश्वासन दिया। इससे 16 तारीख को ही मालिकों ने पुरज़ोर कोशिश की कि मज़दूरों की हड़ताल किसी भी हालत में ख़त्म कर दी जाये और पुलिस ने मालिक की शह पर 8 लोगों पर झूठा मुकदमा दायर करने की धमकी दी। पुलिस मालिको के द्वारा दिये जा रहे 1500 रुपए वेतन बढ़ोत्तरी, ईएसआई लागू करने, हड़ताल के दिनों के 4 दिन का वेतन देने और किसी भी मज़दूर को काम से न निकलने के जुबानी आश्वाशसन पर मज़दूरों को हड़ताल ख़त्म करने का दबाव बनाने लगी। आखिर में मज़दूरों ने यह आंशिक सफलता स्वीकार करते हुए अपने साथियो को रिहा कराया।

इस हड़ताल का सबसे बड़ा सकारात्मक पहलू यह रहा कि मज़दूरों ने अवसरवादी नेतृत्व को ख़ारिज कर अपना संगठन बनाया और हड़ताल कर मालिकों को अपनी माँगो पर आंशिक तौर पर झुकने के लिए मजबूर किया। 26 फैक्टरी के मज़दूरों ने हर कारखाने की कमेटी बनाकर इस हड़ताल का संचालन किया जो ट्रैड यूनियन जनवाद की मिसाल है। यह हमारी इस लड़ाई के सकारात्मक पहलू रहे। अब गरम रोला मज़दूरों को आगे इन सकारात्मक अनुभवों को आगे बढ़ाते हुए क्या करना होगा? बिगुल मज़दूर दस्ता का यह मानना है कि गरम रोला मज़दूर एकता समिति को अपने संघर्ष को गरम रोला के मज़दूरों के साथ ठंडा रोला के मज़दूरों, सर्कल के मज़दूरों और पोलिश के मज़दूरों व वजीरपुर इलाके के सभी फैक्टरियों के मज़दूरों के साथ जोड़ना होगा। 700 कारखानों में मज़दूरों की ज़्यादातर माँगें समान हैं। वजीरपुर इलाके के मज़दूर ऊधम सिंह पार्क, शालीमार बाग व सुखदेव नगर की झोपड़पट्टियों में रहते हैं और यहाँ मज़दूरों की आवास, पानी व अन्य साझा माँगें बनती हैं। इन सभी माँगों को समेटने और इस लड़ाई को व्यापक बनाने का काम एक इलाकाई यूनियन ही कर सकती है। इसलिए गरम रोला मज़दूर एकता समिति को विस्तारित कर या अलग से तुरन्त वज़ीरपुर इलाके की एक इलाकाई आधार पर यूनियन बनाने के लिए हमें संगठित होना होगा।

– बिगुल संवाददाता

मज़दूरों की सेहत से खिलवाड़ – आखिर कौन ज़िम्मेदार?

कुछ महीने पहले रामप्रकाश अपने दूसरे साथी मज़दूरों की तरह रोज लुधियाना की एक फैक्ट्री में काम करने जाता था और जैसे-तैसे परिवार का पेट पाल रहा था। फिर एक दिन उसको तेज़ बुखार हुआ और साथ में खाँसी, और यहीं से शुरू हो गई उसके दुख की कहानी। वह बीमारी से डरा हुआ वापिस उत्तर प्रदेश में अपने गाँव चला गया क्योंकि लुधियाना में रुकने का मतलब था बिना काम के खाने का और इलाज का बन्दोबस्त करना जो कि किसी हाल में सम्भव नहीं था। घर से थोड़ा-बहुत ठीक होने के बाद वो वापिस लुधियाना आ गया और फिर से काम करने लगा। मगर बुखार और खाँसी अभी भी उसका पीछा नहीं छोड़ रही थी। उसने एक-दो झोला-छाप डाक्टरों को दिखाया, इसी में एक ने उसको टीबी की बीमारी बताकर बिना कोई टेस्ट करवाये टीबी का इलाज शुरू कर दिया। असल में चाहिए तो ये था कि रामप्रकाश को टीबी की सम्भावना थी भी, तो भी उसको सरकारी टीबी सेंटर भेजा जाता मगर झोला-छाप डाक्टर ने आपनी कमाई के लिए रामप्रकाश को वो दवाएँ जो सरकारी सेंटर से मुफ़्त मिलती हैं, बाज़ार से खरीदने के लिए कहा। मगर रामप्रकाश की मुश्किल यहीं नहीं रुकी। जिस डाक्टर ने टीबी का इलाज शुरू किया था, उसको टीबी के इलाज के आधुनिक तरीके के बारे कुछ पता न था। उस ने बिना कोई जाँच-पड़ताल किये ऐसी दवा के इंजेक्शन देने शुरू कर दिये जो आज के समय बहुत कम टीबी के मरीजों को दिये जाते हैं। इन इंजेक्शनों के कुछ बेहद ख़तरनाक साइड इफैक्ट होते हैं – जैसे सुनने की शक्ति और चलते समय शरीर का सन्तुलन बनाये रखने की क्षमता का चले जाना और गुर्दे का काम करना बन्द कर देना। इंजेक्शन लगते हुए एक महीना भी नहीं हुआ था कि रामप्रकाश को सरदर्द, उलटी और चक्कर आने शुरू हो गये जो साफ तौर पर इंजेक्शन के साइड इफैक्ट को बता रहे थे। लेकिन झोला-छाप डाक्टर को दवा के बारे कुछ पता न था, नतीजतन उसने इंजेक्शन लगाने जारी रखे। जब तक इंजेक्शन लगने बन्द हुए, तब तक दवा के बुरे असर ने रामप्रकाश के शरीर को बुरी तरह प्रभावित कर दिया था। चलते समय शरीर का सन्तुलन बनाए रखने की उसकी क्षमता लगभग ख़त्म हो चुकी थी। वो थोडा भी चलने की कोशिश करता, तो पूरा शरीर झूलने लगता और चक्कर खाकर गिरता। अब चार महीने के बाद दवा के बुरे प्रभाव का असर कम होना शुरू हो गया है और रामप्रकाश कुछ चलने-फिरने योग्य हुआ है, मगर अब भी उसे बहुत सावधानी से चलना पड़ता है। लेकिन दवा का ये बुरा असर ऐसा है कि ये पूरी तरह ठीक होने के लिए एक साल और कई बार तो दो साल का समय लेता है, और अक्सर ऐसा होता है कि दवा का बुरा प्रभाव पूरी तरह ठीक होता ही नहीं, इसलिए इसके शिकार हुए आदमी बाकी ज़िन्दगी ऐसे ही काटनी पड़ती है।

रामप्रकाश जैसे ही कुछ चलने के लायक हुआ है, उसने काम ढूँढना शुरू कर दिया। पहले वो कारीगर का काम करता था, अब उसे कोई कम मेहनत वाला काम करना पड़ेगा और उसमें भी कम तनख़्वाह पर काम करने के लिए मानना पड़ेगा। ऐसे पता नहीं कितने रामप्रकाश हैं जो अपना इलाज ठीक से न करवा पाने और झोला-छाप डाक्टरों का शिकार हो कर सालों के लिए और कई बार तो उम्र भर के लिए नाकारा हो जाते हैं। लेकिन सवाल उठता है कि रामप्रकाश जैसे मेहनतकश लोगों की ज़िन्दगी के साथ ऐसे खिलवाड़ का ज़िम्मेदार कौन है?

अक्सर मज़दूर बीमार होने पर वापिस अपने गाँव चले जाते हैं क्योंकि इलाज का खर्चा उठाना और काम छोड़कर कमरे पर बैठना उनके लिए सम्भव नहीं होता। इसलिए सबसे पहले तो फैक्ट्री मालिक दोषी हैं जो मज़दूरों का ई.एस.आई. कार्ड नहीं बनाते जिस से मज़दूर अपना इलाज मुफ्त और अच्छी तरह से करवा पायें और इलाज के दौरान आधी दिहाड़ी पर छुट्टी ले सकें। साथ ही, वो अधिकारी दोषी हैं जो सरकार से तनख़्वाह तो फैक्ट्रियों की चैकिंग और मज़दूरों की भलाई के नाम पर लेते हैं लेकिन चापलूसी मालकों की करते हैं, घूस खाकर मज़दूरों को उनके अधिकारों से वंचित रखते हैं। बाकी सभी औद्योगिक इलाकों की तरह, लुधियाना में भी ज़्यादातर मज़दूर ठेका-पीसरेट पर काम करते हैं और फैक्ट्रियों में श्रम कानून सफ़ेद हाथी बने रहते हैं। मालिक मज़दूरों की जमकर लूट करते हैं और बदले में बहुत थोड़ी तनख़्वाह देते हैं। सरकारी मशीनरी मालिकों का पक्ष लेती है और सब कुछ अनदेखा कर देती है। नतीजतन मज़दूरों के पास मुफ़्त इलाज की कोई सुविधा नहीं होती और इलाज करवाने के लिए पैसे नहीं होते, उन्हें मजबूर होकर घरों को लौटना पड़ता है। लेकिन घर में भी वो पूरा इलाज नहीं करवा पाते, क्योंकि थोडा सा ही ठीक होने पर वो काम पर लौटने की कोशिश करते हैं, आखिर मज़दूर काम करेगा तो ही अपना तथा अपने परिवार का पेट पालेगा!

दूसरा, मज़दूर इलाकों में झोला-छाप डाक्टरों की भरमार है। ये झोला-छाप डाक्टर बीमारी और दवाओं की जानकारी न होने के बावजूद सरेआम अपना धन्धा चलाते हैं। इनका हर मरीज़ के लिए पक्का फार्मूला है – ग्लूकोज़ की बोतल लगाना, एक-दो इंजेक्शन लगाना, बहुत ही ख़तरनाक दवा (स्टीरॉयड) की कई डोज़ हर मरीज़ को खिलाना और साथ में दो-चार किस्म की गोली-कैप्सूल थमा देना। छोटी-मोटी बीमारी के लिए भी ये धन्धेबाज़ मज़दूरों की जेबों से न सिर्फ अच्छे-ख़ासे रुपये निकाल लेते हैं, बल्कि लोगों को बिना ज़रूरत के ख़तरनाक दवाएँ खिलाते हैं। दवाओं की दुकानों वाले कैमिस्ट डाक्टर बने बैठे हैं और अपना धन्धा चलाने के लिए आम लोगों को तरह-तरह की दवाएँ खिलाते-पिलाते हैं। मज़दूर के पास जो थोड़ी-बहुत बचत होती भी है, वो ये झोला-छाप डाक्टर हड़प जाते हैं और बाद में इलाज के लिए पैसे की ज़रूरत पड़ती है तो मज़दूर के पास कुछ नहीं बचा होता। नतीजतन, या तो मज़दूर घर भागता है, या फिर बिना इलाज के काम जारी रखता है जिसके नतीजे भयंकर निकलते हैं। सरकार के सेहत विभाग पास इसकी जानकारी न हो, ये असम्भव है। असल में ये सब सरकारी विभागों-अफसरों की मिली-भगत से चलता है!

अब कोई कहेगा कि मज़दूर पहले ही क्यों नहीं अच्छे डाक्टर के पास जाते, वो झोला-छाप डाक्टरों पास जाते ही क्यों हैं? योग्यता रखने वाले डाक्टर मज़दूर इलाकों से बहुत दूर हैं, फीस बहुत वसूलते हैं और बहुत महँगी दवा लिखते हैं। सरकारी अस्पताल/डिस्पेंसरी और ई.एस.आई. अस्पताल/डिस्पेंसरी की गिनती ही बहुत कम है और मुख्य ई.एस.आई. अस्पताल मज़दूर इलाकों से दूर पौश इलाके में है। पूरे लुधियाना में यह एक ही ई.एस.आई. अस्पताल है हालाँकि लुधियाना में मज़दूरों की गिनती 15-20 लाख तक है। इस अस्पताल का काम करने का तरीका कुछ ऐसा है (जिसके बारे मज़दूर अक्सर शकायत करते हैं) और इसकी मज़दूर इलाकों से दूरी के चलते वहाँ दवा लेने जाने का मतलब है 2-3 दिन तक काम से छुट्टी लेना, और मज़दूर के लिए अक्सर ये सम्भव ही नहीं होता। ई.एस.आई. डिस्पेंसरियों की गिनती भी बहुत कम है। दूसरा, ई.एस.आई. कार्ड भी बहुत कम मज़दूरों के पास हैं, बहुतेरे मज़दूरों के कार्ड या तो मालिक ई.एस.आई. विभाग से मिलीभगत करके बनने ही नहीं देते, या फिर मज़दूरों को खुद ही इसके बारे पता नहीं है। ई.एस.आई. अस्पताल के अलावा, एक बड़ा सरकारी सिविल अस्पताल है जिसके सहारे पूरे लुधियाना की आम आबादी है। इस तरह सेहत सुविधाएँ देने के लिए सरकार की तरफ से बहुत कम प्रबन्ध है। सरकारों की इन नीतियों की वजह से प्राइवेट अस्पताल एवं क्लीनिक खूब कमाई कर रहे हैं और संख्या में भी बढ़ रहे हैं। और आम आदमी को मजबूरन इनकी लूट का शिकार होना पड़ रहा है।

वैज्ञानिक तरीके से सेहत सुविधाएँ देने वाला पूरा प्रबन्ध मज़दूरों और आम लोगों की पहुँच से बाहर हो चुका है, सरकारों ने उनको झोला-छाप डाक्टरों या फिर तांत्रिक-ओझाओं के लिए छोड़ दिया है और लोगों द्वारा चुने होने की नौटंकी करते हुए सरकारें पूरी तरह बड़े डाक्टरों-प्राइवेट अस्पतालों की सेहत-वृद्धि के लिए काम कर रही हैं। दूसरी तरफ, मज़दूर इलाकों की रहने की हालतें इतनी भयंकर और अमानवीय बन चुकी हैं कि हर समय वहाँ पर बीमारी फैलने का ख़तरा तो रहता ही है, वहाँ पर रहते हुए कोई भी आदमी सेहतमन्द रह ही नहीं सकता। आम लोगों को सेहत के बारे जागरूक करने और सरकार की तरफ से जो थोड़ा-बहुत आम लोगों के लिए किया जाता है (जैसे टीबी की दवा सरकारी अस्पतालों अभी निशुल्क मिल रही है और इस बारे बहुतेरे लोगों पता तक नहीं है) उसके बारे लोगों को बताने के लिए सरकारी तन्त्र की ओर से कुछ नहीं किया जाता। बीमारी फैलने से रोकने के लिए प्रबन्ध करना जैसे मच्छर मारने के लिए छिड़काव करना, पानी साफ करने के लिए क्लोरीन की गोलियाँ बाँटना, बीमारी की हालत में प्राथमिक उपचार के बारे बताना आदि, ये सब सरकारें कर सकती हैं लेकिन उनकी कोई मंशा नहीं है क्योंकि सरकार पूँजीपतियों के हाथों बिक चुकी है, या कहा जाये कि सरकार उन्हीं की होती है। सरकार के लिए भी आम लोग कीड़े है जो अगर कुछ गिनती में मर भी जायेंगे तो सरकार की और पूँजीपतियों की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ता। दूसरा, सरकार के लिए आम लोगों की सेहत पर खर्चा करने के जगह पर पूँजीपतियों के लिए टैक्स छूट देना, उनको बेल-आउट पॅकेज देना ज़्यादा जरूरी है, आम लोग जायें भाड़ में। ऊपर से दवा कम्पनियों की लूट अलग से है। इन सबके बारे अलग से कभी फिर, फिलहाल इतना ही। मगर ये बात साफ है कि अगर मज़दूर और आम लोग अपने और अपनों के लिए सेहत सुविधाएँ चाहते हैं तो सरकारों का मुँह ताकते रहने से कुछ नहीं होने वाला। इसके लिए उनके आगे आन्दोलन के अलावा कोई रास्ता नहीं है।

– डा. अमृतपाल
मज़दूर क्लिनिक, लुधियाना

मौत और मायूसी के कारख़ाने

औद्योगिक दुर्घटनाओं पर एक वृत्तचित्र

दूर बैठकर यह अन्दाज़ा लगाना भी कठिन है कि राजधानी के चमचमाते इलाक़ों के अगल-बगल ऐसे औद्योगिक क्षेत्र मौजूद हैं जहाँ मज़दूर आज भी सौ साल पहले जैसे हालात में काम कर रहे हैं। लाखों-लाख मज़दूर बस दो वक़्त की रोटी के लिए रोज़ मौत के साये में काम करते हैं।... कागज़ों पर मज़दूरों के लिए 250 से ज्यादा क़ानून बने हुए हैं लेकिन काम के घण्टे, न्यूनतम मज़दूरी, पीएफ, ईएसआई कार्ड, सुरक्षा इन्तज़ाम जैसी चीज़ें यहाँ किसी भद्दे मज़ाक से कम नहीं... आये दिन होने वाली दुर्घटनाओं और मज़दूरों की मौतों की ख़बर या तो मज़दूर की मौत के साथ ही मर जाती है या फिर इन कारख़ाना इलाक़ों की अदृश्य दीवारों में क़ैद होकर रह जाती है। दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, लोग मरते रहते हैं, मगर ख़ामोशी के एक सर्द पर्दे के पीछे सबकुछ यूँ ही चलता रहता है, बदस्तूर...

फ़ैज़ के लफ़्ज़ों में :

कहीं नहीं है, कहीं भी नहीं लहू का सुराग़
न दस्त-ओ-नाख़ून-ए-क़ातिल न आस्तीं पे निशाँ
न सुर्ख़ी-ए-लब-ए-ख़ंजर, न रंग-ए-नोक-ए-सनाँ
न ख़ाक पे कोई धब्बा न बाम पे कोई दाग़
कहीं नहीं है, कहीं भी नहीं लहू का सुराग़ ...

यह डॉक्युमेण्ट्री फिल्म तरक़्क़ी की चकाचौंध के पीछे की अँधेरी दुनिया में दाखिल होकर स्वर्गलोक के तलघर के बाशिन्दों की ज़िन्दगी से रूबरू कराती है, तीखे सवाल उठाती है और उनके जवाब तलाशती है।

निर्देशक: चारुचन्द्र पाठक

ह्यूमन लैंडस्केप प्रोडक्शन्स
(अरविन्द स्मृति न्यास से सम्बद्ध)
की प्रस्तुति

फिल्म की डीवीडी शीघ्र उपलब्ध। सम्पर्क: 9818376996

मई दिवस पर मज़दूरों ने अपने शहीदों को याद किया

करावलनगर, दिल्ली में निकली 'मज़दूर अधिकार रैली'

मज़दूरों ने अपने हक़-अधिकारों का माँगपत्रक इलाके के विधायक को सौंपा।

1 मई को 128वें 'अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर दिवस' के अवसर पर करावल नगर में मज़दूरों की एक विशाल रैली का आयोजन किया गया। करावलनगर मज़दूर यूनियन और स्त्री मज़दूर संगठन के संयुक्त बैनर तले बुधवार को हुई इस 'मज़दूर अधिकार रैली' में इस इलाके के अलग-अलग पेशे से जुड़े सैकड़ों मज़दूर शामिल हुए। करावलनगर के लेबर चौक से शुरू हुई मज़दूर अधिकार रैली इलाके की मुख्य सड़क से होती हुई विधायक के कार्यालय पहुँची। विधायक के कार्यालय के बाहर ही सभी बैठ गये और वहाँ मज़दूरों के प्रतिनिधियों द्वारा मज़दूरों का माँगपत्रक पढ़ा गया और फिर इन मज़दूर प्रतिनिधियों ने विधायक को मज़दूरों द्वारा हस्ताक्षरित बुनियादी हक़-अधिकारों का एक माँगपत्रक सौंपा।

विधायक के कार्यालय के बाहर ही सभा में करावलनगर मज़दूर यूनियन की सांस्कृतिक टोली द्वारा मज़दूर अधिकारों से जुड़े क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति भी की गई। मतलब नहीं है। कार्यकर्ताओं ने इस सभा में मज़दूरों को मई दिवस के इतिहास से परिचित कराते हुए बताया कि मई दिवस के संघर्ष के बदौलत ही एक समय सभी देशों में पूँजीपतियों की सरकारों को कम-से-कम कानूनी तौर पर आठ घण्टे का कार्यदिवस देने को मज़बूर होना पड़ा। उन्होंने कहा कि 'मज़दूर अधिकार रैली' करावलनगर के मज़दूरों के हक़-अधिकारों के संघर्ष की शुरुआत है।

लुधियाना के पूडा मैदान में हुए मई दिवस सम्मेलन में मज़दूरों ने मई दिवस आन्दोलन की क्रान्तिकारी विरासत को आगे बढ़ाने का संकल्प लिया

कारखाना मज़दूर यूनियन और टेक्सटाइल-होज़री कामगार यूनियन की ओर से आयोजित सम्मेलन में मज़दूरों ने संघर्ष और कुर्बानी का प्रतीक लाल झण्डा फहराकर मई दिवस के शहीदों को याद किया और शोषण तथा उत्पीड़न को ख़त्म करने के लिए मज़दूर वर्ग की ऐतिहासिक लड़ाई को आगे बढ़ाने का संकल्प लिया। इस अवसर पर क्रान्तिकारी गीत और नाटक प्रस्तुत किये गये और सम्मेलन के बाद विभिन्न रास्तों से होता हुआ एक मार्च निकाला गया।

गोरखपुर में मज़दूरों ने अन्तरराष्ट्रीय मई दिवस पर संघर्ष जारी रखने का संकल्प लिया

गोरखपुर में मालिकान और प्रशासन के गँठजोड़ की ओर से मज़दूरों को दबाने-कुचलने-हतोत्साहित करने की तमाम कोशिशों के बावजूद बरगदवा इलाके के अनेक कारख़ानों के मज़दूरों ने एकजुट होकर मई दिवस मनाया और अपने संघर्ष को जारी रखने का संकल्प लिया। मज़दूरों के दबाव में कुछ कारख़ानों में मालिकान को छुट्टी घोषित करनी पड़ी।

मज़दूरों ने बरगदवा औद्योगिक क्षेत्र तथा बाज़ार से होते हुए रैली निकाली और सभा की जिसमें विभिन्न कारख़ानों के मज़दूरों के साथ-साथ बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी भी शामिल हुए। सभा में अनेक मज़दूरों ने कहा कि अपने-अपने कारख़ानों में शोषण-उत्पीड़न से लड़ने के साथ ही हमें पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ भी लड़ने की तैयारी करनी होगी। शोषकों की आपसी एकता के जवाब में हम मज़दूरों को भी व्यापक एकता क़ायम करनी होगी।

विदा कॉमरेड शालिनी, लाल सलाम!

मज़दूर-मुक्ति के लक्ष्य को समर्पित एक युवा, ऊर्जस्वी जीवन का अन्त

युवा क्रान्तिकारी और जनमुक्ति समर की वैचारिक-सांस्कृतिक बुनियाद खड़ी करने के अनेक क्रान्तिकारी उपक्रमों की एक प्रमुख संगठनकर्ता कॉमरेड शालिनी नहीं रहीं। पिछले 29 मार्च की रात को दिल्ली के धर्मशिला कैंसर अस्पताल में उनका निधन हो गया। वे सिर्फ़ 38 वर्ष की थीं। जनवरी 2013 के दूसरे सप्ताह में लखनऊ में कैंसर होने का पता चलते ही उन्हें इलाज के लिए दिल्ली के धर्मशिला कैंसर अस्पताल लाया गया था, जहाँ डॉक्टरों ने बता दिया था कि पैंक्रियास का कैंसर काफी उन्नत अवस्था में पहुँच चुका है और मेटास्टैसिस शुरू हो चुका है तथा एलोपैथी में इसका पूर्ण इलाज सम्भव नहीं है। वे केवल दर्द से राहत देने और उम्र को लम्बा खींचने के लिए उपचार कर सकते हैं। हालाँकि धर्मशिला कैंसर अस्पताल के डॉक्टरों से बात करके वैकल्पिक उपचार की दो पद्धतियों से भी उनका उपचार साथ-साथ चल रहा था। कॉ. शालिनी शुरू से ही पूरी स्थिति से अवगत थीं और अद्भुत जिजीविषा, साहस और ख़ुशमिज़ाजी के साथ रोग से लड़ रही थीं।

कॉ. शालिनी 'जनचेतना' पुस्तक प्रतिष्ठान की सोसायटी की अध्यक्ष, 'अनुराग ट्रस्ट' के न्यासी मण्डल की सदस्य, 'राहुल फाउण्डेशन' की कार्यकारिणी सदस्य और परिकल्पना प्रकाशन की निदेशक थीं। प्रगतिशील, जनपक्षधर और क्रान्तिकारी साहित्य के प्रकाशन तथा उसे व्यापक जन तक पहुँचाने के काम को भारत में सामाजिक बदलाव के संघर्ष का एक बेहद ज़रूरी मोर्चा मानकर वे पूरी तल्लीनता और मेहनत के साथ इसमें जुटी हुई थीं। अपने छोटे-से जीवन के अठारह वर्ष उन्होंने विभिन्न मोर्चों पर सामाजिक-राजनीतिक कामों को समर्पित किये।

बलिया में 1974 में जन्मी कामरेड शालिनी का राजनीतिक जीवन बीस साल की उम्र में ही शुरू हो गया, जब 1995 में लखनऊ से गोरखपुर जाकर उन्होंने एक माह तक चली एक सांस्कृतिक कार्यशाला में और फिर 'शहीद मेला' के आयोजन में हिस्सा लिया। इसके बाद वह गोरखपुर में ही युवा महिला कॉमरेडों के एक कम्यून में रहने लगीं। तीन वर्षों तक कम्यून में रहने के दौरान शालिनी स्त्री मोर्चे पर, सांस्कृतिक मोर्चे पर और छात्र मोर्चे पर काम करती रहीं। इसी दौरान उन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय से प्राचीन इतिहास में एम.ए. किया। एक पूरावक़्ती क्रान्तिकारी कार्यकर्ता के रूप में काम करने का निर्णय वह 1995 में ही ले चुकी थीं।

1998-99 के दौरान शालिनी लखनऊ आकर राहुल फ़ाउण्डेशन से मार्क्सवादी साहित्य के प्रकाशन एवं अन्य गतिविधियों में भागीदारी करने लगीं। 1999 से 2001 तक उन्होंने गोरखपुर में 'जनचेतना' पुस्तक प्रतिष्ठान की ज़िम्मेदारी सँभाली। इसी दौरान गोरखपुर में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा में काम करते हुए शालिनी जन अभियानों, आन्दोलनों, धरना-प्रदर्शनों आदि में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती रहीं। वे एक कुशल अभिनेत्री भी थीं और अनेक मंचीय तथा नुक्कड़ नाटकों में उन्होंने काम किया। जनचेतना पुस्तक केन्द्र में बैठने के साथ ही वे अन्य साथियों के साथ झोलों में किताबें और पत्रिकाएँ लेकर

शालिनी
(21 दिसम्बर 1974 – 29 मार्च 2013)

घर-घर और कालेजों-दफ़्तरों में जाती थीं, लोगों को प्रगतिशील साहित्य के बारे में बताती थीं, नये पाठक तैयार करती थीं। नवम्बर 2002 से दिसम्बर 2003 तक उन्होंने इलाहाबाद में 'जनचेतना' की प्रभारी के रूप में काम किया। इस दौरान भी अन्य स्त्री कार्यकर्ताओं की टीम के साथ वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रों के बीच और इलाहाबाद शहर में युवाओं तथा नागरिकों के बीच विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेती रहीं। इलाहाबाद के अनेक लेखक और संस्कृतिकर्मी आज भी उन्हें याद करते हैं।

2004 से लेकर दिसम्बर 2012 के अन्त में बीमार होने तक वह लखनऊ स्थित 'जनचेतना' के केन्द्रीय कार्यालय और पुस्तक प्रतिष्ठान का काम सँभालती रहीं। इसके साथ ही वह 'परिकल्पना,' 'राहुल फ़ाउण्डेशन' और 'अनुराग ट्रस्ट' के प्रकाशन सम्बन्धी कामों में भी हाथ बँटाती रहीं। 'अनुराग ट्रस्ट' के मुख्यालय की गतिविधियों (पुस्तकालय, वाचनालय, बाल कार्यशालाएँ आदि) की ज़िम्मेदारी उठाने के साथ ही कॉ. शालिनी ने ट्रस्ट की वयोवृद्ध मुख्य न्यासी दिवंगत कॉ. कमला पाण्डेय की जिस लगन और लगाव के साथ सेवा और देखभाल की, वह कोई सच्चा सेवाभावी कम्युनिस्ट ही कर सकता था। 2011 में 'अरविन्द स्मृति न्यास' का केन्द्रीय पुस्तकालय लखनऊ में तैयार करने का जब निर्णय लिया गया तो उसकी व्यवस्था की भी मुख्य ज़िम्मेदारी शालिनी ने ही उठायी।

ग़ौरतलब है कि इतनी सारी विभागीय ज़िम्मेदारियों के साथ ही शालिनी आम राजनीतिक प्रचार और आन्दोलनात्मक सरगर्मियों में भी यथासम्भव हिस्सा लेती रहती थीं। बीच-बीच में वह लखनऊ की ग़रीब बस्तियों में बच्चों को पढ़ाने भी जाती थीं। लखनऊ के हज़रतगंज में रोज़ शाम को लगने वाला जनचेतना के स्टॉल पर पिछले कई वर्षों से सबसे ज़्यादा शालिनी ही खड़ी होती थीं।

कॉ. शालिनी एक ऐसी कर्मठ, युवा कम्युनिस्ट संगठनकर्ता थीं, जिनके पास अठारह वर्षों के कठिन, चढ़ावों-उतारों भरे राजनीतिक जीवन का समृद्ध अनुभव था। कम्युनिज़्म में अडिग आस्था के साथ उन्होंने एक मज़दूर की तरह खटकर राजनीतिक काम किया। इस दौरान, समरभूमि में बहुतों के पैर उखड़ते रहे। बहुतेरे लोग समझौते करते रहे, पतन के पंककुण्ड में लोट लगाने जाते रहे, घोंसले बनाते रहे, दूसरों को भी दुनियादारी का पाठ पढ़ाते रहे या अवसरवादी राजनीति की दुकान चलाते रहे। शालिनी इन सबसे रत्तीभर भी प्रभावित हुए बिना अपनी राह चलती रहीं। एक बार जीवन लक्ष्य तय करने के बाद पीछे मुड़कर उन्होंने कभी कोई समझौता नहीं किया। यहाँ तक कि उनके पिता ने भी जब निहित स्वार्थ और वर्गीय अहंकार के चलते पतित होकर कुत्सा-प्रचार और चरित्र-हनन का मार्ग अपनाया तो उनसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने में शालिनी ने पल भर की भी देरी नहीं की। एक व्यापारी और भूस्वामी परिवार की पृष्ठभूमि से आकर, शालिनी ने जिस दृढ़ता के साथ सम्पत्ति-सम्बन्धों से निर्णायक विच्छेद किया और जिस निष्कपटता के साथ कम्युनिस्ट जीवन-मूल्यों को अपनाया, वह आज जैसे समय में दुर्लभ है और अनुकरणीय भी।

कॉमरेड शालिनी ने अपने राजनीतिक वसीयतनामे (मेरी आख़िरी इच्छा) में लिखा था,

"यदि मैं ज़िन्दगी की जंग हार जाती हूँ
तो मेरे पार्थिव शरीर को
हम लोगों के प्यारे लाल झण्डे में अवश्य लपेटा जाये
और फिर उसे वैज्ञानिक प्रयोग या गरीब ज़रूरतमन्दों को अंगदान के उद्देश्य से
किसी सरकारी अस्पताल या मेडिकल कालेज को समर्पित कर दिया जाये।
इस पर अमल का दायित्व विधि अनुसार
दो कामरेडों को मैं सौंप जाऊँगी।
यदि किसी कारणवश यह सम्भव न हो सके
तो मेरा पार्थिव शरीर
मेरे कामरेडों के कन्धों पर विद्युत शवदाहगृह तक जाना चाहिए
और मेरा अन्तिम संस्कार
बिना किसी धार्मिक रीति-रिवाज के,
इण्टरनेशनल की धुन और तनी मुट्ठियों के साथ होना चाहिए।"

उन्हें देहदान की क़ानूनी प्रक्रिया पूरी कर पाने का अवसर ही नहीं मिल पाया। दूसरे, डॉक्टरों सहित किसी को भी यह अनुमान ही नहीं था कि मृत्यु इतनी जल्दी उन्हें अपने आगोश में ले लेगी। कम्युनिस्ट उसूलों और कॉमरेड शालिनी की अन्तिम इच्छा का सम्मान करते हुए उनके पार्थिव शरीर को लाल झण्डे में लपेटकर रखा गया और सजल आँखों, तनी मुट्ठियों और इण्टरनेशनल की धुन के साथ साथियों ने उसे अन्तिम सलामी दी। 30 मार्च 2013 को दिल्ली के लोधी रोड स्थित विद्युत शवदाहगृह में बिना किसी धार्मिक रीति-रिवाज के, "कॉ. शालिनी को लाल सलाम" और "कॉ. शालिनी तुम ज़िन्दा हो, हम सबके संकल्पों में" के नारों के साथ उनकी अन्त्येष्टि की गयी।

का. शालिनी हम सबके संकल्पों में, हमारी यादों में हमेशा ज़िन्दा रहेंगी। हम उन्हें कभी नहीं भूलेंगे। उन्होंने जिस लक्ष्य को अपना जीवन समर्पित किया उसके लिए उन्हीं की तरह एकनिष्ठ होकर काम करना ही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (12-16 मार्च, 2013), चण्डीगढ़

'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद'

जाति उन्मूलन का रास्ता मज़दूर इंक़लाब और समाजवाद से होकर जाता है, संसदवादी, अस्मितावादी या सुधारवादी राजनीति से नहीं!

गत 12 से 16 मार्च तक अरविन्द स्मृति न्यास द्वारा चण्डीगढ़ में चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का आयोजन हुआ। इस बार संगोष्ठी पाँच-दिवसीय थी और इसका विषय था 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद'। संगोष्ठी में देशभर से बुद्धिजीवियों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, छात्रों-युवाओं और दलित संगठनों के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। संगोष्ठी में आठ पेपर पढ़े गये और कुछ अन्य आलेखों को संगोष्ठी में वितरित किया गया।

अरविन्द स्मृति न्यास का गठन वामपन्थी राजनीतिक कार्यकर्ता व बुद्धिजीवी कॉमरेड अरविन्द की स्मृति में किया गया था। साथी अरविन्द सच्चे अर्थों में जनता के आदमी थे। मात्र 44 वर्ष की उम्र में 24 जुलाई 2008 को उनका निधन हो गया था। अपने 24 वर्षों के सक्रिय राजनीतिक जीवन में का. अरविन्द ने छात्रों-नौजवानों, ग्रामीण मज़दूरों और औद्योगिक मज़दूरों के बीच काम किया तथा 'दायित्वबोध' जैसी सैद्धान्तिक पत्रिका, 'नौजवान' और 'आह्वान' जैसी छात्रों-युवाओं की पत्रिका और मज़दूर अख़बार 'बिगुल' का सम्पादन किया। दिल्ली और उत्तर प्रदेश उनके मुख्य कार्यक्षेत्र रहे और कुछ समय उन्होंने हरियाणा और पंजाब में भी दिया। दिल्ली में मज़दूरों के बीच काम करने के दौरान जनवादी अधिकार आन्दोलन में भी उनकी सक्रिय भागीदारी रही। उनकी याद में हर वर्ष उनकी पुण्यतिथि पर अरविन्द स्मृति न्यास भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए किसी ज्वलन्त और प्रासंगिक सवाल पर अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन करता है। यह संगोष्ठी साथी अरविन्द की स्मृति में आयोजित की जाने वाली वार्षिक संगोष्ठियों की चौथी कड़ी थी। इस वर्ष से यह वार्षिक संगोष्ठी का. अरविन्द की जन्मतिथि 12 मार्च के अवसर पर आयोजित करने का निर्णय लिया गया था। दिल्ली व गोरखपुर में हुई पहली दो संगोष्ठियाँ भूमण्डलीकरण के दौर में मज़दूर आन्दोलन की दिशा, सम्भावनाओं, समस्याओं और चुनौतियों पर केन्द्रित थीं और लखनऊ में आयोजित तीसरी संगोष्ठी भारत में जनवादी अधिकार आन्दोलन की समस्याओं, चुनौतियों और सम्भावनाओं पर थी। इस बार 12 से 16 मार्च तक आयोजित पाँच दिवसीय संगोष्ठी का विषय था 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद'।

मज़दूर आन्दोलन से लेकर छात्र-युवा आन्दोलनों तक में सक्रिय हर राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ता इस बात से अच्छी तरह से वाक़िफ़ है कि जाति का सवाल आज मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता समेत छात्रों-युवाओं तक को संगठित करने में सबसे महत्वपूर्ण बाधाओं में से एक है। और ऐसा आज से नहीं बल्कि कई दशकों से है। देश की करीब 17 करोड़ दलित आबादी का बहुलांश मेहनतकश लोग हैं, जो कि भयंकर आर्थिक उत्पीड़न के साथ बर्बर जातिगत उत्पीड़न के भी शिकार हैं। हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान से लेकर तमिलनाडु और कर्नाटक तक मेहनतकश दलित आबादी के साथ आये दिन बर्बर और अमानवीय कृत्यों की ख़बरें आती रहती हैं। यह दलित मेहनतकश आबादी भारत के मज़दूर वर्ग का सबसे पीड़ित और साथ ही सबसे जुझारू हिस्सा है। यही कारण है कि इस दलित आबादी को मज़दूर वर्ग से अलग रखने के लिए जातिवादी अस्मितावादी राजनीति का जाल शासक वर्ग और उसके टट्टुओं द्वारा बिछाया गया है। चुनावी और ग़ैर-चुनावी अस्मितावादी दलित राजनीति करने वाले संगठन इस आबादी को एक राजनीतिक पार्थक्य में रखते हैं और उनके हितों के अकेले पहरेदार होने का दावा करते हैं। वहीं दूसरी ओर मज़दूर वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाला कम्युनिस्ट आन्दोलन दलित आबादी के संघर्षों में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने और बेमिसाल कुर्बानियाँ देने के बावजूद, दलित प्रश्न को सही ढंग से समझने में नाकाम रहा। दलित आबादी के बीच कम्युनिज़्म को बदनाम करने में संसदवादी संशोधनवादी कम्युनिस्टों की बड़ी भूमिका रही है, जिन्होंने अपने जीवन में सवर्णवादी मूल्यों-मान्यताओं पर अमल करते हुए लाल झण्डे पर धब्बा लगाने का काम किया। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट अपने जीवन में जाति व्यवस्था को ख़ारिज करने के बावजूद जाति की सामाजिक समस्या के ऐतिहासिक मूल और समाधान के बारे में कोई विस्तृत योजना पेश न कर सके। लेकिन इन सबके बावजूद यह आज का सच है कि सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद के बिना, बुर्जुआ व्यवस्था के दायरे के भीतर दलित आबादी की मुक्ति सम्भव नहीं है; साथ ही, यह भी उतना ही बड़ा सच है कि व्यापक मेहनतकश दलित आबादी की भागीदारी और उसकी बाकी मज़दूर आबादी के साथ फौलादी एकजुटता के बिना ऐसी कोई क्रान्ति सम्भव ही नहीं है। यह एकता कैसे कायम की जाय? अस्मितावादी राजनीति का मुकाबला कैसे किया जाय? अम्बेडकर के योगदानों की आलोचनात्मक समीक्षा किस रूप में की जाय? क्या अम्बेडकर के पास जाति उन्मूलन का कोई रास्ता था? दलित मुक्ति की क्रान्तिकारी समाजवादी परियोजना का ख़ाका कैसे तैयार किया जाय? फौरी कार्यभारों के तौर पर क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन को इस प्रश्न पर कौन-से कदम उठाने चाहिए? ये ऐसे कुछ सवाल हैं जिनका जवाब देना आज क्रान्तिकारियों के सामने एक अहम चुनौती है। और इसी चुनौती का जवाब देने के लिए एक व्यापक बहस-मुबाहसे के लिए चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी का विषय 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' रखा गया। इस संगोष्ठी की रिपोर्ट हम आपके बीच पेश कर रहे हैं।

संगोष्ठी के पहले दिन साथी अरविन्द को क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि अर्पित करने के साथ कार्यक्रम की शुरुआत हुई। इसके बाद अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से संगोष्ठी का विस्तृत आधार आलेख 'जाति प्रश्न और उसका समाधान: एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण' सत्यम द्वारा पेश किया गया। यह आधार आलेख अरविन्द स्मृति न्यास की शोध टीम द्वारा तैयार किया गया था। आलेख में यह स्थापना रखी गयी कि भारत में सर्वहारा क्रान्ति की कोई भी परियोजना जाति के प्रश्न को सही ढंग से समझे बिना और उसके समाधान की दीर्घकालिक ऐतिहासिक योजना के बिना आगे नहीं बढ़ सकती है; साथ ही, जातिगत असमानता और उत्पीड़न का ख़ात्मा और समूची जाति व्यवस्था के उन्मूलन की भी कोई परियोजना पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर रहकर सुधारवाद, आरक्षण, संसदवाद और अस्मितावाद के रास्ते आगे नहीं बढ़ सकती है। आज क्रान्ति के हिरावलों को ज़रूरत है कि वे जाति उन्मूलन की एक सही वैज्ञानिक-ऐतिहासिक परियोजना पेश करें। निश्चित तौर पर, सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था स्वयं ही ख़त्म नहीं हो जायेगी और उसके बाद भी कई सांस्कृतिक क्रान्तियों और समाजवादी शिक्षा आन्दोलनों के बाद ही यह लक्ष्य पूरा हो पायेगा। लेकिन क्रान्ति होने तक जाति के प्रश्न को स्थगित भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जाति के प्रश्न को पहले दिन से ही क्रान्तिकारी समझदारी के साथ उठाये बिना सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के लिए संगठित ही नहीं किया जा सकता है। जहाँ एक ओर देश की मेहनतकश आबादी में स्वत:स्फूर्त रूप से जातिगत विभेद के संस्कार मौजूद हैं, वहीं वोट बैंक की राजनीति करने वाली पूँजीवादी चुनावी पार्टियाँ भी वोटों के लिए जातिगत समीकरणों का ही इस्तेमाल करती हैं, जिससे कि समाज में जातिगत विभेद और भी ज़्यादा बढ़ता है। शासक वर्गों की हर सम्भव कोशिश होती है कि पहले से जाति में बँटी हुई आम मेहनतकश जनता के बीच जातिवादी चेतना को और ज़्यादा बढ़ावा दिया जाय।

आलेख में आगे स्पष्ट किया गया कि जाति व्यवस्था को उसकी ऐतिहासिकता के साथ ही समझा जा सकता है। जाति व्यवस्था अपने उद्भव से लेकर आज तक के दौर में स्थैतिक और जड़ नहीं रही है, बल्कि सतत् गतिमान रही है। अपने उद्भव के दौर में वर्ण वर्ग के रूप में ही पैदा हुए थे; लेकिन आगे धार्मिक कर्मकाण्डीय वैधीकरण प्राप्त करने के कारण वर्ण तुलनात्मक रूप से स्थैतिक श्रेणी बन गयी जबकि वर्ग उत्पादन सम्बन्धों में आने वाले बदलावों के कारण अपेक्षाकृत ज़्यादा गतिमान रहे। फिर भी, औपनिवेशिक दौर के पहले तक जातियों के पदानुक्रम और वर्गों के पदानुक्रम के बीच कमोबेश अतिच्छादन की स्थिति बनी हुई थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आने के बाद उद्योगों, रेलवे आदि का जो सीमित विकास ब्रिटिश शासकों के लाभ के लिए किया, उसके कारण जाति के कुछ बन्धन कमज़ोर पड़े और जातियों के पदानुक्रम और वर्गों के पदानुक्रम के बीच के अतिच्छादन के तत्व में कमी आयी। आज़ादी के बाद भारतीय पूँजीपति वर्ग ने भारत में जो क्रमिक पूँजीवादी विकास का रास्ता अख़्तियार किया, उसके कारण कम गति से ही सही, लेकिन जाति द्वारा आधारित अनमनीय श्रम विभाजन और खान-पान सम्बन्धी वर्जनाएँ टूटी हैं। लेकिन बेटी का रिश्ता अभी भी नहीं बन सका है। लेकिन उसका एक कारण यह है कि अन्तर्जातीय विवाह पूँजीवाद की ज़रूरत नहीं हैं। जातिगत विभेद और बँटवारा भारतीय समाज की पोर-पोर में समायी हुई है और जाति व्यवस्था के आर्थिक और एक हद तक राजनीतिक पहलुओं के पूँजीवादी विकास के साथ काफी हद तक कमज़ोर हो जाने के बावजूद सांस्कृतिक और सामाजिक रूप में यह अभी भी भारतीय समाज में अपनी

(पेज 9 पर जारी)

'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' पर संगोष्ठी की रिपोर्ट

(पेज 8 से आगे)

सशक्त उपस्थिति आये दिन दर्ज़ कराती रहती है। यह विशेष रूप से दलित-उत्पीड़न की बर्बर घटनाओं के रूप में सामने आता है।

कुछ सहूलियतों और सुधारों से दलित आबादी को कुछ भी हासिल हो सकेगा इसकी उम्मीद कम ही है। आरक्षण के लगभग तीन दशक बीत जाने के बाद यह स्वयंसिद्ध है, कि आज आरक्षण एक जनवादी माँग नहीं बल्कि जनवादी विभ्रम में तब्दील हो चुका है। यह शासक वर्ग के हाथ में दलित आबादी के बीच भी लगातार फूट डालते जाने का एक अहम औज़ार बन चुका है। तीन दशक बीत जाने के बाद भी अगर आरक्षण की नीति के ज़रिये अगर सिर्फ़ 7-8 प्रतिशत दलित ही इसका लाभ प्राप्त कर सके हैं, तो यह सोचना पड़ेगा कि इस नीति से व्यापक दलित मेहनतकश आबादी को क्या हासिल हो सकता है? वहीं दूसरी तरफ़, शासक वर्ग ने इस नीति का इस्तेमाल लगातार न सिर्फ़ पूरी आम मेहनतकश आबादी की एकता को तोड़ने के लिए किया है, बल्कि स्वयं दलितों की आबादी को भी खण्ड-खण्ड में बाँटने में किया है। साथ ही, यह भी सोचने का विषय है कि अम्बेडकर के पास दलित मुक्ति की कोई ऐतिहासिक परियोजना थी या नहीं। जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक मूल से लेकर उसकी गतिकी तक के बारे में अम्बेडकर की समझदारी बेहद उथली थी। नतीजतन, जाति उन्मूलन को कोई वैज्ञानिक रास्ता वह कभी नहीं सुझा सके। इसका एक कारण यह भी था कि अम्बेडकर की पूरी विचारधारा अमेरिकी व्यवहारवाद के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। लिहाज़ा, उनका आर्थिक कार्यक्रम अधिक से अधिक पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद तक जाता था, सामाजिक कार्यक्रम अधिक से अधिक धर्मान्तरण तक और राजनीतिक कार्यक्रम कभी भी संविधानवाद के दायरे से बाहर नहीं गया। कुल मिलाकर, यह एक सुधारवादी कार्यक्रम था और पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर ही कुछ सहूलियतें और सुधार माँगने से आगे कभी नहीं जाता था। अम्बेडकर का एक योगदान अवश्य था कि उन्होंने पहली बार दलित अस्मिता को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया और दलितों की मुक्ति के प्रश्न को राष्ट्रीय एजेण्डे पर स्थापित करने में योगदान किया। लेकिन जहाँ तक जाति उन्मूलन का सवाल है, उनके पास इसका कोई रास्ता नहीं था। साथ ही, अम्बेडकर के बाद के दौर में दलित राजनीति में पैदा हुए रैडिकल मोड़ भी अन्ततः पतन में समाप्त हुए। ऐसे में, विचारणीय है कि अस्मिता की ज़मीन पर खड़े होकर दलित मुक्ति की कोई भी परियोजना नहीं बनायी जा सकती है। आधार आलेख में फुले और पेरियार की जाति-विरोधी धाराओं का भी आलोचनात्मक विश्लेषण रखा गया और बताया गया कि पेरियार का जाति-विरोध निरीश्वरवाद और तर्कवाद की ज़मीन पर खड़ा था। लेकिन राजनीतिक तौर पर इसकी समझदारी बेहद कमज़ोर थी। मिसाल के तौर पर, उपनिवेशवाद का विरोध न करने का उनका फैसला अन्ततः जाति व्यवस्था के पक्ष में जाकर ही खड़ा होता था, क्योंकि कुछ बिखरे सामाजिक और शैक्षणिक सुधारों को छोड़ दिया जाय तो ऐतिहासिक तौर पर उपनिवेशवाद ने जाति व्यवस्था को मज़बूत करने का काम किया था। यही कारण था कि आगे भी पेरियार कभी अनमनीय जाति-विरोधी राजनीतिक व्यवहार नहीं कर पाये।

लेकिन साथ ही यह भी एक सत्य है कि भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन दलित प्रश्न को कभी सही तरीके से समझ नहीं सका। तमाम रैडिकल आन्दोलनों में कम्युनिस्ट दलितों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े, उनके ज़मीन और इज्ज़त के हक़ के लिए असाधाराण क़ुर्बानियाँ भी दीं और भाकपा और माकपा के संशोधनवाद के रास्ते पर चल पड़ने के बाद, देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रमुख सिपाहियों में बिहार, पश्चिम बंगाल से लेकर आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक तक दलित आबादी ही थी। तमाम इलाकों में सवर्ण ज़मींदारों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष कर कम्युनिस्ट आन्दोलन ने दलितों को सिर ऊँचा करके चलने का हक़ दिलाया। लेकिन इन तमाम क़ुर्बानियों के बावजूद अपनी बौद्धिक-राजनीतिक कमज़ोरी के चलते भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन जाति का प्रश्न को न तो सही ढंग से समझ सका और न ही उसके समाधान की कोई ऐतिहासिक परियोजना सुझा सका। आज कई नव-मार्क्सवादी चिन्तक इस कमज़ोरी की चर्चा करते हुए अम्बेडकरवादी और अस्मितावादी दलित आन्दोलन के समक्ष आत्मसमर्पण की मुद्रा में हैं, और कम्युनिस्ट आन्दोलन में दलित लक्ष्य के लिए की गयी क़ुर्बानियों को नज़रअन्दाज़ करने पर आमादा हैं। लेकिन यह कम्युनिस्ट आन्दोलन का एक सही आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं है। सही विश्लेषण हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि जो कम्युनिस्ट आन्दोलन कभी सही विचारधारात्मक अवस्थिति नहीं अपना सका, जो कभी अपने देश की ठोस परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर कभी क्रान्ति का कार्यक्रम नहीं तैयार कर सका, जो रणनीति और आम रणकौशल के मसलों पर विदेशी नेतृत्व पर अपनी मानसिक निर्भरता के कारण लगातार गम्भीर चूकें करता रहा, उससे यह उम्मीद भी नहीं की जा सकती है कि वह जाति के जटिल प्रश्न का कोई सन्तुलित मूल्यांकन पेश करे। कम्युनिस्ट आन्दोलन मार्क्सवादी अप्रोच और प्रणाली से जाति प्रश्न का सही विश्लेषण नहीं कर सका। कभी बचकाने तरीके से जाति व्यवस्था को मूलाधार से सम्बन्धित बता दिया गया तो कभी अधिरचना से। कभी जाति को ही वर्ग बता दिया गया तो कभी दोनों को एकदम असम्बद्ध घोषित कर दिया गया।

अन्त में, जाति उन्मूलन की एक नयी समाजवादी परियोजना प्रस्तावित की गयी। इसे दो हिस्सों में रखा गया। एक हिस्सा तो दीर्घकालिक एजेण्डे का था, जिसमें समाजवादी किस प्रकार जाति के प्रश्न को आर्थिक धरातल और राजनीतिक धरातल से ख़त्म करता है, और किस प्रकार वह सामाजिक धरातल पर भी लम्बे एजेण्डे के साथ जातिगत विभेद को ख़त्म करता है, इस बात का संक्षेप में उल्लेख किया गया था। दूसरा हिस्सा फौरी कार्यभारों का था जिसमें जाति-विरोधी संगठन बनाने, मज़दूर माँगपत्रकों को दलित मज़दूरों की माँगों को प्रमुख स्थान देने, अन्तरजातीय विवाहों को बढ़ावा देने, अखबारों में जाति आधारित विज्ञापनों पर रोक लगाने, सार्वजनिक स्थलों पर धार्मिक समागमों पर रोक लगाने जैसे कार्यक्रम शामिल थे।

आलेख की प्रस्तुति पूरी होने के बाद सदन से प्रथम हस्तक्षेप आमन्त्रित किये गये। नेपाल से 'नेपाल राष्ट्रीय दलित मुक्ति मोर्चा' के अग्रणी नेता तिलक परियार ने कहा कि कुछ सीमाओं के साथ आधार आलेख ने भारत में जाति की समस्या का उत्कृष्ट विश्लेषण किया है। उन्होंने कहा कि दलित प्रश्न पूरे दक्षिण एशिया का प्रश्न है और इस विषय पर कोई महाद्वीपीय मंच बनाया जाना चाहिए। उनका मानना था कि अलग से दलित संगठन बनाये जा सकते हैं। अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से स्पष्टीकरण देते हुए अभिनव ने कहा कि दलित मुक्ति के लिए ऐसे संगठन नहीं बनाये जाने चाहिए जिसकी सदस्यता महज़ दलितों तक सीमित हो। इसकी सदस्यता हर उस व्यक्ति के लिए खुली होनी चाहिए जो दलित मुक्ति के लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध हो। अन्यथा, वह आन्दोलन अस्मितावादी राजनीति के पंककुण्ड में जा गिरेगा। लेकिन इस बात पर सहमति जतायी गयी कि व्यापक दलित आबादी के बीच कम्युनिस्ट नेतृत्व के प्राधिकार को स्थापित करने के लिए लगातार वर्ग दृष्टिकोण से उनके बीच राजनीतिक प्रचार की ज़रूरत है।

महाराष्ट्र से आये 'रिपब्लिकन पैंथर्स' के सदस्य शरद गायकवाड़ ने कहा वह अम्बेडकर के मसले पर आधार आलेख से सहमत नहीं हैं। आज मज़दूर वर्ग और दलितों के आन्दोलन का नारा लाल सलाम के साथ-साथ 'जय भीम' भी होना चाहिए। शरद गायकवाड़ ने कहा कि अम्बेडकर की इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी एक लाल झण्डे वाली पार्टी थी। उनके अनुसार केवल दलित ही दलित का दर्द समझ सकता है और इसलिए उसकी मुक्ति के लिए बोलने का प्राधिकार भी उसके पास ही है। संगोष्ठी के आयोजकों ने स्पष्ट किया कि अम्बेडकर से आज का मज़दूर आन्दोलन और यहाँ तक कि दलित आन्दोलन क्या ले सकता है, यह स्पष्ट किया जाना चाहिए। दलित अस्मिता को स्थापित करने के सिवा अम्बेडकर के पास दलित मुक्ति की कोई परियोजना नहीं थी। सिर्फ़ भावनाओं के धरातल पर और दलित आबादी के तुष्टिकरण के लिए एक ग़लत सोच को कैसे अपनाया जा सकता है। दलित आबादी भी इस तुष्टिकरण की राजनीति को समझती है और इससे आज तक उन्हें कोई भी अपने साथ जोड़ नहीं पाया है। आज ज़रूरत है कि वर्ग दृष्टिकोण के साथ दलितों के बीच राजनीतिक प्रचार कर उन्हें गोलबन्द किया जाय। यह समझने की ज़रूरत है कि अम्बेडकर को कोई पवित्र वस्तु नहीं बना दिया जाना चाहिए, जो आलोचना से परे हो। उनके विचारों पर विस्तार से चर्चा की जानी चाहिए।

पश्चिम बंगाल से 'सेण्टर फॉर सोशल साइंस स्टडीज़' से आये प्रस्कन्न सिन्हारे ने कहा कि आधार आलेख में दलित समस्या को उनकी जगह पर खड़े होकर नहीं समझा गया है और पूरे देश में दलितों को एकसमान समझ लिया गया है। जबकि दलित आबादी देश के अलग-अलग हिस्सों में बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। उनको एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता है, बल्कि उनकी अपनी अलग-अलग स्थिति से ही देखा जा सकता है। संगोष्ठी आयोजकों की ओर से अभिनव ने स्पष्ट किया कि आधार आलेख की मुख्य विषयवस्तु दलित जातियों के बीच देश पैमाने पर मौजूद अन्तर नहीं था। निश्चित तौर पर, देश के अलग-अलग हिस्सों में दलित जातियों के चरित्र और स्थिति में बहुत अन्तर है। लेकिन इसके बावजूद यह भी सच है कि उनका एक सामान्य एजेण्डा बनता है, और विशेष रूप से मेहनतकश दलित आबादी का एक सामान्य एजेण्डा और भी स्पष्ट तौर पर बनता है। 'सन्हति' के असित दास ने कहा वह आधार आलेख में प्रस्तुत मूल्यांकन से कुल मिलाकर सहमति रखते हैं और साथ ही जाति व्यवस्था की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा भी प्रशंसनीय है। लेकिन इस बारे में आलेख में कुछ नहीं बताया गया कि अम्बेडकर और फुले जैसे व्यक्तित्वों को जनवादी कार्यभारों को पूरा करने में मित्र माना जाये या नहीं; साथ ही, जो दलित संगठन बेईमान और चुनावी राजनीति के दलदल में नहीं फँसे हैं, उनसे कोई साझा मोर्चा बन सकता है या नहीं, इसके बारे में भी स्पष्टीकरण की ज़रूरत है। संगोष्ठी के आयोजकों की ओर से अभिनव ने असित दास के समक्ष स्पष्टीकरण रखते हुए कहा कि निश्चित तौर पर समाजवादी क्रान्ति के दौर में छूटे-फटके जनवादी कार्यभारों की पूर्ति में ईमानदार दलित संगठनों के साथ मुद्दा-आधारित मोर्चा बनाया जा सकता है और बनाया जाना चाहिए; लेकिन यह एकता विचारधारात्मक और आम राजनीतिक एकता का रूप नहीं ले सकती है क्योंकि जहाँ तक दलित मुक्ति की एक वैज्ञानिक परियोजना का प्रश्न है, वह न तो अम्बेडकर के पास थी, न अन्य अस्मितावादी दलित संगठनों के पास है, चाहे वे ईमानदार ही क्यों न हों। पंजाब विश्वविद्यालय से आये प्रो. मंजीत सिंह ने कहा कि यह समझने की ज़रूरत है कि भारत में जाति व्यवस्था टूटी क्यों नहीं। पूँजीवाद ने इसे अपने तरीके से और मज़बूत करने का काम किया है, क्योंकि आर्थिक तौर पर भी कई क्षेत्रों में यह पूँजीपतियों को अतिरिक्त अधिशेष निचोड़ने का मौका देता है। उन्होंने कहा कि भारत में दास उत्पादन पद्धति, सामन्ती उत्पादन पद्धति और पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का एक मिश्रण तैयार हुआ है। जाति व्यवस्था न सिर्फ़ एक सामाजिक असमानता है, बल्कि वह आर्थिक असमानता की ज़मीन भी तैयार करती है। अरविन्द न्यास स्मृति की ओर से प्रो. मंजीत सिंह की बातों से सशर्त सहमति जताते हुए अभिनव ने कहा कि हर समाज में एक सामाजिक संरचना होती है, जिसमें कई उत्पादन पद्धतियाँ सहअस्तित्व में होती हैं; उत्तर-औपनिवेशिक पूँजीवादी समाजों में यह बात और भी जटिलता के साथ लागू होती है, लेकिन दुनिया का कोई भी समाज इस स्थिति से मुक्त नहीं है। सवाल यह है कि कई उत्पादन पद्धतियों के तन्तुबद्धीकरण (आर्टिकुलेशन) वाली सामाजिक संरचना में प्रभावी और प्रमुख उत्पादन पद्धति कौन-सी है। साथ ही, दलित मज़दूरों को कई बार बंधुआ मज़दूरों के तौर पर रखा जाता है। लेकिन पूँजीवाद स्वयं अस्वतन्त्र श्रम का प्रयोग करता है। मार्क्स ने जब दोहरे अर्थों में स्वतन्त्र श्रम की बात की थी, तो उन्होंने 'स्वतन्त्र' को उद्धरण चिन्हों के बीच इसीलिए रखा था ताकि 'स्वतन्त्र' शब्द का कोई शाब्दिक अर्थ न निकाल ले। पूँजीवाद का समूचा इतिहास इस बात का गवाह है कि इसने बार-बार दास श्रम से लेकर भूदास श्रम और बेगारी तक का अतिरिक्त अधिशेष निकालने में हर उस जगह इस्तेमाल किया है, जहाँ ऐसा करना सम्भव था। भारत में जाति व्यवस्था ने कई जगह इस बात को सम्भव बनाया है। लेकिन यह अपने आपमें सामन्ती या दास उत्पादन पद्धति का प्रतीक नहीं है, बल्कि दिखलाता है कि हर सामाजिक संरचना का चरित्र ऐसा ही होता है। सिरसा से आये डा. सुखदेव हुन्दल ने आधार आलेख से सहमति जतायी लेकिन साथ ही इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि बुद्धवाद के विश्लेषण को और विस्तृत और स्पष्ट रूप में रखने की ज़रूरत थी। सुखविन्दर ने अरविन्द स्मृति न्यास की ओर से स्पष्ट किया कि चूँकि आधार आलेख के फ्रेमवर्क की एक सीमा थी इसलिए इस सवाल पर बहुत तफ़सील से लिखना सम्भव नहीं था, लेकिन निश्चित रूप से यथोचित स्थान पर इस पर आगे ज़रूर लिखा जायेगा।

नेपाल की 'नेपाल की एकीकृत कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी)' की केन्द्रीय कमेटी के सदस्य और सांस्कृतिक मामलों के विशेषज्ञ कॉ. नीनू चपागाई ने कहा कि आधार आलेख एक गम्भीर विश्लेषण पेश करता है और जाति प्रश्न के नेपाल में भी मौजूद होने के बावजूद ऐसा गम्भीर विश्लेषण देखने को कम मिलता है। लेकिन उनका मानना था कि एक अलग दलित संगठन बनाने का कम्युनिस्ट आन्दोलन से कोई अन्तरविरोध नहीं है। संगठन चाहे जैसा भी हो, राजनीति कौन सी लागू होती है, इससे फर्क पड़ता है। अगर नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में नही होगा तो वही संगठन पहचान की राजनीति की तरफ़ जा सकता है। नेपाल से आये तिलक परियार ने भी नीनू

(पेज 10 पर जारी)

'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' पर संगोष्ठी की रिपोर्ट

(पेज 9 से आगे)

चपागाई की बात का समर्थन किया। इस प्रश्न पर अभिनव ने अरविन्द स्मृति न्यास की तरफ़ से बात रखते हुए कहा कि संगठन किस किस्म का है, इसका भी राजनीति पर प्रभाव पड़ता है। अन्यथा, लेनिन कभी इस बारे में चिन्ता नहीं जताते कि कम्युनिस्ट पार्टी के संघटन में उन्नत मंज़िलों में सर्वहारा तत्व की प्रधानता को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि यदि कोई ग़ैर-दलित दलित मुक्ति की परियोजना से उतना ही प्रतिबद्ध है जितना कि कोई दलित, और वह इस मुहिम को अपना प्रमुख उद्देश्य मानता है, तो क्या दलित संगठन के दरवाज़े उसके लिए बन्द होंगे? ऐसा करके तो दलित संगठन स्वयं अपने सम्भावित मित्रों को खो देगा और इसकी प्रतिक्रिया में एक सिर के बल खड़ा जातिवाद पैदा होगा। ऐसे में, हमारा मानना है कि जाति-विरोधी संगठन निश्चित तौर पर बनाये जाने चाहिए; लेकिन ऐसा संगठन जिसकी सदस्यता सिर्फ़ दलितों की लिए खुली हो, वह किसी भी कम्युनिस्ट पैमाने से ग़लत होगा। यह उसी उत्तर-आधुनिक तर्क की तरफ़ ले जायेगा कि दलित ही दलित के लिए बोल सकता है। यह अस्मितावादी राजनीति के गड्ढे में गिरने के लिए अभिशप्त होगा।

पहले दिन हस्तक्षेप करने वालों में हिमाचल से आये कॉ. सुखपाल, संगरूर से नौजवान भारत सभा के सन्दीप, बामसेफ के हरिकृष्ण, 'डैफोड्वैम' से आये अनन्त आचार्य, करावलनगर मज़दूर यूनियन के नवीन, सिरसा से आये कश्मीर सिंह प्रमुख थे। आधार आलेख पर दूसरे दिन भी बहस जारी रही जिसमें प्रस्कन्न सिन्हारे, असित दास, सुखविन्दर, अनन्त आचार्य, नीनू चपागाई, अभिनव, सत्यम, शब्देश आदि ने हस्तक्षेप किया।

तीसरे दिन जाति प्रश्न और अस्मितावादी राजनीति से जुड़े दो आलेख प्रस्तुत किये गये। पहला आलेख कोलकाता के 'सेण्टर फॉर सोशल साइंस स्टडीज़' से आये अध्येता प्रस्कन्न सिन्हारे ने पेश किया। उन्होंने अपने आलेख 'पश्चिम बंगाल में जाति और राजनीति: वाम मोर्चे का बदलता चेहरा' में प्रदर्शित किया कि किस प्रकार पश्चिम बंगाल में संशोधनवादी माकपा और भाकपा दलित आन्दोलन के प्रति एक सही दृष्टिकोण अपनाने में असफल रहे और किस प्रकार इस असफलता के कारण वहाँ अस्मितावादी जाति राजनीति का उदय हुआ। लेकिन साथ ही साथ उनका दृष्टिकोण था कि जाति की पहचान को कम्युनिस्टों को हूबहू अपने विश्लेषण में अपना लेना चाहिए और उसके साथ बाह्य तौर पर मोर्चा बनाना चाहिए। इस आलेख पर प्रतिक्रिया देते हुए 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' के सम्पादक अभिनव ने कहा कि यह सच है कि संसदमार्गी वाम जाति के प्रश्न को पश्चिम बंगाल में न तो समझ पाया और न सही ढंग से उठा पाया। नतीजा यह हुआ कि भारी दलित आबादी वहाँ अस्मितावादी राजनीति के दलदल में जा फँसी। लेकिन यह भी सच है कि जातिगत अस्मिता को अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार करने और उसके बाद उससे मोर्चा बनाने की राजनीति भी एक अलग किस्म के अस्मितावाद की तरफ़ ही ले जाती। जाति के प्रश्न की विशिष्टता को समझते हुए भी वर्ग दृष्टिकोण को लागू किया जाना बहुत ज़रूरी है। दलित समस्या के समाधान के लिए जहाँ कम्युनिस्टों को अलग से इसकी विशिष्टता को समझना होगा, वहीं यह भी समझना होगा कि अलग-अलग दलित जातियाँ भी कोई एकाश्मीय निकाय नहीं हैं; बल्कि वे स्पष्ट रूप से वर्ग विभाजित हैं। ऐसे में, जातिगत पहचान को अपने विश्लेषण में हूबहू अपना लेने की सोच भी अस्मितावाद का ही एक विशिष्ट संस्करण है। अगला आलेख दिल्ली विश्वविद्यालय से आयी 'स्त्री मुक्ति लीग' से जुड़ी राजनीतिक कार्यकर्ता शिवानी ने प्रस्तुत किया। इस आलेख का विषय था 'जाति, वर्ग और अस्मितावादी राजनीति'। इस आलेख में शिवानी ने प्रदर्शित किया कि अस्मितावादी राजनीति का उत्तर-आधुनिक राजनीतिक एजेण्डे से गहरा सम्बन्ध है। बल्कि कहना चाहिए कि 'तीसरी दुनिया' के तमाम उत्तर-औपनिवेशिक देशों में अस्मितावादी राजनीति की शुरुआत ही वैश्विक पैमाने पर उत्तर-आधुनिक एजेण्डे को आगे बढ़ाने के लिए ही की गयी थी। यह सारा गोरखधन्धा 1970 के दशक से ही शुरू हो चुका था, जब लातिन अमेरिका के देशों में स्वयंसेवी संगठनों का नेटवर्क फैलाया गया, जिनका एकमात्र मकसद था कि वर्ग चेतना को भोथरा बनाकर विभिन्न प्रकार की अस्मिताओं को बढ़ावा दिया जाय। भारत में यही काम 1990 के दशक से ज़ोर-शोर से शुरू हुआ। राजनीतिक पटल पर इस काम को एन.जी.ओ. और विश्व सामाजिक मंच जैसे उनके फोरम अंजाम दे रहे थे, जबकि अकादमिक जगत में इसी काम को सबऑल्टर्न स्टडीज़ जैसी विचार-सरणियाँ अंजाम दे रही थीं। इस पूरी मुहिम में भारत में जाति का प्रश्न बेहद अहम बन गया और तमाम चुनावी और ग़ैर-चुनावी संगठन इसी मकसद से खड़े किये गये कि जातिगत पहचान को बढ़ावा देकर वर्ग चेतना को कुन्द किया जाय। आज भारत में दलित मुक्ति की किसी भी परियोजना को मज़दूर आन्दोलन से जोड़ना होगा और अस्मितावादी राजनीति और चिन्तन के हर रूप का खण्डन करते हुए आगे बढ़ना होगा। इसके अतिरिक्त, कोई भी रास्ता अन्ततः दलित मुक्ति की मुहिम को एक अन्धी गली में ले जाकर छोड़ देगा।

तीसरे दिन ही प्रसिद्ध दलित चिन्तक आनन्द तेलतुम्बड़े भी संगोष्ठी में कुछ घण्टों के लिए आये। उन्होंने अपने वक्तव्य में आधार आलेख में उनके विचारों के उल्लेख पर आपत्ति की। उन्होंने कहा कि आलेख में लिखा गया है कि आनन्द तेलतुम्बड़े अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद का समन्वय करते हैं, जबकि उन्होंने 'समन्वय' शब्द का इस्तेमाल कहीं नहीं किया है। साथ ही उन्होंने कहा कि जब उन्होंने अपनी एक रचना में अम्बेडकर की रचना 'जाति का उन्मूलन' को दलितों के लिए वैसा ही बताया था जैसे कि मज़दूर वर्ग के लिए 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' तो उनका अर्थ सिर्फ़ इतना था कि दोनों ही राजनीतिक लक्ष्यों की घोषणा करने वाली रचनाएँ थीं। उन्होंने आधार आलेख पर आरोप लगाया कि यह ब्राह्मणवादी मानसिकता से लिखा गया है और इसमें मार्क्सवाद के प्रति एक कठमुल्ला दृष्टिकोण अपनाया गया है। उन्होंने माना कि अम्बेडकर के सभी प्रयोग 'महान विफलता' में समाप्त हुए। लेकिन इसके लिए वह अम्बेडकर की विचारधारा को ज़िम्मेदार नहीं ठहराते क्योंकि उनका मानना है कि अम्बेडकर की कोई विचारधारा थी ही नहीं। वह पद्धति के तौर पर जॉन ड्यूई के प्रगतिशील व्यवहारवाद पर अमल करते थे, जिसका मूल तर्क प्राकृतिक विज्ञान जैसा है कि किसी भी परिकल्पना को प्रयोग के आधार पर परखा जाये और उसके आधार पर नयी परिकल्पना का निर्माण किया जाय। इसलिए अम्बेडकर को ख़ारिज नहीं किया जाना चाहिए, और न ही फुले को। आनन्द तेलतुम्बडे के अनुसार किसी भी विचारधारा पर अमल की बजाय सही वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया जाना चाहिए। उन्होंने माना कि वह जॉन ड्यूई के अनुयायी नहीं हैं, लेकिन जॉन ड्यूई का चिन्तन विज्ञान के करीब पड़ता है। उनका मानना था कि पहचान की राजनीति का खण्डन करना व्यर्थ है क्योंकि मार्क्सवाद स्वयं भी तो एक पहचान है। आनन्द तेलतुम्बड़े का जवाब देते हुए अभिनव ने कहा कि आलेख में आनन्द तेलतुम्बडे के बारे में मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के समन्वय की जो टिप्पणी की गयी है, वह सही है और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आनन्द तेलतुम्बडे ने 'समन्वय' शब्द का इस्तेमाल किया है या नहीं। आप जो करते हैं उसके बारे में आप क्या मानते हैं यह उतना अहम नहीं है जितना कि यह कि लोग उसे किस रूप में देखते और समझते हैं। अगर आप अम्बेडकर के अनुयायी नहीं हैं और फिर भी अम्बेडकर की हिमायत करते हैं, तो आपको बताना चाहिए कि अम्बेडकर से क्या सीखा जा सकता है, सिवाय इस सरोकार के कि वह भी जातिवाद के ख़िलाफ़ थे और हम भी जातिवाद के ख़िलाफ़ हैं? अभिनव ने कहा कि आनन्द तेलतुम्बड़े ने जॉन ड्यूई का भी अनुयायी होने से इंकार किया है लेकिन उनके व्यवहारवाद को विज्ञान के करीब बताया है। यह प्रयास मार्क्सवाद और ड्यूईवाद के बीच पुल बनाने का प्रयास है। लेकिन ऐसा हो ही नहीं सकता क्योंकि ड्यूई सचेतन तौर पर अमेरिकी उदारवाद और अमेरिकी शासक वर्ग के पक्ष में खड़े थे। वह सचेतन तौर पर मार्क्सवाद-विरोधी थे। उनका भी आनन्द तेलतुम्बड़े की तरह ही यह मानना था कि कोई भी विचारधारा नहीं मानी जानी चाहिए और केवल तथाकथित वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया जाना चाहिए। लेकिन विज्ञान में भी अप्रोच (पहुँच) का बहुत महत्व है। केवल पद्धति वैज्ञानिकों को कभी सही नतीजों तक नहीं पहुँचा सकती। अगर ऐसा होता तो वैज्ञानिकों के बीच कभी कोई बहस नहीं होती। ड्यूई का मकसद ही यह था कि किसी भी प्रकार की विचारधारा को नकार दिया जाय और वैज्ञानिक पद्धति की आड़ में प्रतिबद्धता के सवाल को नेपथ्य में धकेल दिया जाय। यही कारण है कि आज व्यवहारवाद अमेरिकी बुर्जुआज़ी की प्रिय विचारधारा है। ड्यूई साफ़ तौर पर मानते थे कि क्रान्ति अवांछित है और धीरे-धीरे कुछ सुधार होने चाहिए और वह भी सरकार के द्वारा, जनता के द्वारा नहीं। क्योंकि ड्यूई का जनता पर कोई भरोसा नहीं था। वह सरकार के यहाँ अरज़ी देने तक ही जाते हैं। यह सारी सोच अम्बेडकर भी थी। यही कारण था कि उनका चिन्तन अरज़ियाँ देने, संविधानवाद, समझौतापरस्ती, और जनता पर अविश्वास के दायरों में ही सीमित रहा। अपनी तमाम सदिच्छाओं के बावजूद यह अम्बेडकर की विचारधारा ही थी जिसके कारण उनके सारे प्रयोग 'महान विफलता' में समाप्त हुए और आनन्द तेलतुम्बडे को यह बात समझनी चाहिए। सिर्फ़ पद्धति की बात करना और अप्रोच के सवाल को गोल कर देना ही व्यवहारवाद की निशानी है और आनन्द तेलतुम्बडे के वक्तव्य से यह ज़ाहिर होता है कि उनकी भी यही सोच है। सुखविन्दर ने तेलतुम्बडे द्वारा कम्युनिस्टों पर लगाये गये इस आरोप का खण्डन किया कि उन्होंने दलितों की मुक्ति के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाये और अम्बेडकर के प्रति उनका दृष्टिकोण सही नहीं था। सुखविन्दर ने बताया कि कम्युनिस्ट हमेशा साझा मोर्चा बनाने को तैयार थे और अम्बेडकर का रवैया इस प्रकार का था कि उनसे कोई मोर्चा बन नहीं पाया। उनकी अंग्रेज़परस्ती और समझौतापरस्ती किसी भी रूप में मज़दूर आन्दोलन और दलित मुक्ति की मुहिम से मेल नहीं खाती थी, और उनकी विचारधारा के अनुसार चलें तो दलित मुक्ति आन्दोलन भी सुधारवाद, संसदवाद और अरज़ीवाद के गलियारों में घूमता रह जायेगा। कम्युनिस्ट जाति के प्रश्न को समझ नहीं सके इसका अर्थ यही नहीं कि उन्होंने जाति उन्मूलन के सवाल को उठाया ही नहीं। सच तो यह है कि दलितों के मुक्ति के लिए जितने कम्युनिस्टों ने संघर्ष किया और कुर्बानी दी, अम्बेडकर कहीं उसके करीब भी नहीं पड़ते। जब तेलंगाना में दलितों के संघर्ष को खून के दलदल में डुबाया जा रहा था, तो अम्बेडकर इसके बारे में एक शब्द भी नहीं बोलते हैं और भारत सरकार से इस्तीफ़ा देने की बजाय विधि मन्त्री के पद पर विद्यमान रहते हैं। इसलिए आनन्द तेलतुम्बडे को इतिहास को विकृत नहीं करना चाहिए। सुखविन्दर ने कहा कि बिहार, पश्चिम बंगाल, आन्ध्रप्रदेश से लेकर कर्नाटक तक तमाम इलाकों में आज दलित सम्मान के साथ सिर उठाकर चलते हैं, तो इसका श्रेय अम्बेडकर को नहीं बल्कि कम्युनिस्ट आन्दोलन को जाता है।

अपने आख़िरी वक्तव्य में आनन्द तेलतुम्बडे ने कहा कि जो बातें उनके पहले वक्तव्य के बारे में कही गयीं, उनसे वह मोटे तौर पर सहमत हैं। साथ ही वह आधार आलेख को ब्राह्मणवादी नहीं कहना चाहते थे, उनका मकसद केवल अपने उल्लेख पर सवाल खड़ा करना था। उन्होंने कहा कि इस प्रश्न पर वह आगे बात करने का तैयार हैं। तीसरे दिन 'सन्हति' के असित दास ने भी जाति के सवाल पर अपनी प्रस्तुति दी जो कि अनुराधा गाँधी की पुस्तक की एक आलोचनात्मक समीक्षा पर आधारित थी।

चौथे दिन की शुरुआत अभिनव के आलेख 'जाति व्यवस्था सम्बन्धी इतिहास-लेखन: कुछ आलोचनात्मक प्रेक्षण' की प्रस्तुति के साथ शुरू हुआ। इस आलेख में अभिनव ने जाति के प्रश्न पर जो इतिहास-लेखन हुआ है, उसकी एक संक्षिप्त समीक्षा की। औपनिवेशिक काल से जी जाति के प्रश्न पर अंग्रेज़ इतिहासकारों और प्रशासकों ने लिखना शुरू कर दिया था। उनका लेखन जाति को समझने की जटिलता की एक तस्वीर है। उन्होंने गहरे अध्ययन के आधार पर कुछ प्रेक्षण रखे, जिनमें से कुछ सही तो कुछ ग़लत थे। आज़ादी के बाद इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों ने भी जाति के प्रश्न को समझने का प्रयास किया। इसमें इतिहासकार ज़्यादा सफल रहे क्योंकि समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण वर्तमान में कैद रहा है और ऐतिहासिक दृष्टि से उनका लेखन लैस नहीं रहा है। आगे आलेख में बताया गया कि जाति का उद्भव किस प्रकार एक आरम्भिक श्रम विभाजन और उसके बाद वर्ग विभाजन के तौर पर हुआ। इस वर्ग विभाजन को सही ठहराने के लिए ही वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में ब्राह्मणों ने वर्ण/जाति की विचारधारा खड़ी की। इस विचारधारा ने तत्कालीन वर्ग विभाजन को जाति/वर्ण विभाजन के तौर पर वैधीकरण दिया और उसे धार्मिक कर्मकाण्डीय तौर पर अश्मीभूत और जड़ बना दिया। इसके बाद से समाज में उत्पादन सम्बन्धों के बदलने और उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ वर्ग विभाजन बदलते गये। लेकिन जातियों का विभाजन उस गति से नहीं बदल सकता था, क्योंकि उसका कर्मकाण्डीय अश्मीभूतीकरण कर दिया गया था। नतीजतन, मध्यकाल आते-आते जाति और वर्ग एक दूसरे को पूर्णतः अतिच्छादित नहीं करते थे, बल्कि उनमें एक संगति (करेस्पॉण्डेंस) का सम्बन्ध स्थापित हो गया था। यह संगति औपनिवेशिक काल आते-आते और कमज़ोर पड़ चुकी थी, और स्वातंत्र्योत्तर भारत में पूँजीवादी विकास ने जाति व्यवस्था के साथ वर्ग विभाजन की संगति को और अधिक कमज़ोर बना दिया। आज जाति व्यवस्था के तीन मूल तत्वों यानी कि खान-पान सम्बन्धी रोक, जन्म-आधारित अनमनीय श्रम विभाजन और विवाह के रिश्ते पर प्रतिबन्ध, में से पहले दो लगभग समाप्त हो चुके हैं, और तीसरा भी कम-से-कम शहरी पढ़े-लिखे युवाओं में टूट रहा है। तीसरा पहलू कम कमज़ोर इसलिए हुआ है क्योंकि समाज में पूँजीवादी पितृसत्तात्मक ढाँचा बरकरार है, बल्कि मज़बूत हुआ है। इसका दूसरा कारण यह है

(पेज 12 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (अठारहवीं किस्त)

● आनन्द सिंह

भारतीय संघात्मक ढाँचे के ढोल की पोल

भारतीय संविधान और लोकतन्त्र के उत्साही समर्थक भारत के संघात्मक ढाँचे के विशिष्ट स्वरूप पर बलाइयाँ लेते नहीं अघाते। उनके अनुसार भारतीय गणतन्त्र की यह ख़ूबी है कि वह आम तौर पर तो संघात्मक रहता है, परन्तु विघटनकारी तत्वों से निपटने के लिए ज़रूरत पड़ने पर इसको एकात्मक ढाँचे में भी तब्दील किया जा सकता है। जबकि सच्चाई तो यह है कि अर्न्तवस्तु के रूप में भारतीय संविधान एक एकात्मक ढाँचे की आधारशिला रखता है जिसकी असलियत बाहरी रंगरोगन के द्वारा छिपायी गयी है। एक बहुराष्ट्रीय देश (कई राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं-उपराष्ट्रीयताओं वाला देश) होने के बावजूद भारतीय गणराज्य की स्थापना एक ऐसी पद्धति द्वारा नहीं हुई जिसमें विभिन्न राष्ट्रीयताओं ने अपने अधिकांश अधिकार अपने पास रखकर अपने कुछ अधिकार स्वैच्छिक रूप से भारतीय गणराज्य को देने का फैसला किया हो। यहाँ हुआ यह कि औपनिवेशिक सत्ता की वापसी के फैसले के साथ ही भारत की केन्द्रीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने तमाम राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं को अपने नवनिर्मित संघात्मक गणराज्य (न कि गणराज्यों का संघ) के ढाँचे में शामिल कर लिया। उनमें से कुछ तो स्वेच्छा से (हलाँकि उनमें भी केन्द्रीय दबाव के प्रतिकार और वर्चस्व की भावना मौजूद थी) इस गणराज्य में शामिल हुए, परन्तु कई मामलों में मुखर या परोक्ष रूप में बलप्रयोग तथा विश्वासघात (वायदों से मुकरने के रूप में) का पहलू मौजूद था। रियासतो-रजवाड़ों की मौजूदगी ने भी कांग्रेसी सरकार द्वारा दबाव के प्रयोग के लिए औचित्य-प्रतिपादन का काम किया था क्योंकि जनता इन राजे रजवाड़ों से त्रस्त थी और इनसे किसी भी हाल में छुटकारा पाना चाहती थी।

भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास पर एक नज़र डालने से हम पाते हैं कि कमोबेश समूचे भारतीय उपमहाद्वीप को एक केन्द्रीय राज्यसत्ता के मातहत लाने का काम ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने मुकम्मिल किया। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म उपनिवेशवाद विरोध की भावना और विचार के रूप में हुआ और उपनिवेशवाद की गर्भ से जन्मा भारतीय बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्वकारी वर्ग के रूप में उभरा और समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति अपनाते हुए जनता की संगठित शक्ति का इस्तेमाल कर एक ओर उसने औपनिवेशिक सत्ता से अपने लिये रियायतें माँगकर अपने आप को मजबूत किया और वहीं दूसरी ओर जनता के आन्दोलनों को एक हद से ज़्यादा उग्र नहीं होने दिया। औपनिवेशिक काल में, भारतीय उपमहाद्वीप के अलग-अलग भाषाओं-संस्कृतियों वाले इलाकों की ठोस परिस्थितियों के हिसाब से बुर्जुआ और निम्नबुर्जुआ वर्ग का राष्ट्रीय मानस शुरू से ही द्विस्तरीय या द्वैधतापूर्ण रूप में विकसित हुआ। एक ओर अलग-अलग विकसित हुए राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं (जैसे बंगला, तेलगू, मराठी, तमिल आदि) की ज़मीन पर विकसित हुई राष्ट्रीय भावना थी, दूसरी ओर उपनिवेशवाद-विरोध की साझा जमीन पर विकसित हुई सर्वभारतीय राष्ट्रवाद (पैन-इण्डियन नेशनलिज़्म) की भावना थी। इन दोनों के बीच अतिच्छादन(ओवरलैपिंग) की स्थिति भी बनती थी और संघात की भी। उत्तर औपनिवेशिक भारत(और पाकिस्तान) कई राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं के एक संजटिल समुच्चय के रूप में अस्तित्व में आया।

औपनिवेशिक सत्ता से आज़ादी की लड़ाई के दौरान कांग्रेसी नेतृत्व ने एकाधिक बार देश की जनता से यह वायदा किया था कि आज़ादी मिलने के बाद भारत गणराज्यों का एक ऐसा स्वैच्छिक संघ होगा जिसमें विभिन्न इकाइयों के पास अधिकतम स्वायत्तता होगी और केवल कुछ ही न्यूनतम साझा मामले केन्द्र के पास होंगे। यहाँ तक कि अवशिष्ट अधिकार (तमेपकनंतल चवूमते) राज्यों को देने का वायदा किया गया था। परन्तु आज़ादी मिलने की आहट सुनते ही कांग्रेसी नेतृत्व ने निहायत ही बेशर्मी से अपने वायदों से मुकरते हुए एक मज़बूत केन्द्र की रट लगानी शुरू कर दी। 1946 के कैबिनेट मिशन की योजना में एक अविभाजित भारत का प्रस्ताव था जिसमें बंगाल और पंजाब का विभाजन किये बगैर एक ढीले ढाले संघात्मक ढाँचे की बात कही गई थी जिसमें केन्द्र के पास सीमित अधिकारों का प्रावधान था। परन्तु नेहरू और पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस ने इस योजना को इस तर्ज़ पर अस्वीकार कर दिया कि इससे देश में अपकेन्द्री ताकतों (बमदजतपनिहंस वितबमे) को बढ़ावा मिलेगा। ग़ौरतलब है कि कैबिनेट मिशन की इस योजना पर मुस्लिम लीग की सहमति थी। भारत में आम तौर पर विभाजन की पूरी ज़िम्मेदारी मुस्लिम लीग और जिन्ना के मत्थे मढ़ दी जाती है, परन्तु कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव पर नेहरू और पटेल सहित कांग्रेसी शीर्ष नेतृत्व के रुख से स्पष्ट है कि वो भी विभाजन की विभीषिका की ज़िम्मेदारी से अपना पल्ला नहीं झाड़ सकते। एक मज़बूत केन्द्र की सनक भरी ख़्वाहिश में उन्होंने विभाजन जैसी त्रासदी को स्वीकार कर लिया और अन्ततः माउण्टबेटन एवार्ड को हाथो हाथ लिया क्योंकि इसमें सत्ता को कांग्रेस के नेतृत्व में एक मज़बूत केन्द्र को सत्ता हस्तांतरण का प्रस्ताव था।

सत्ता हस्तांतरण के बाद संविधान सभा ने भारतीय संविधान के निर्माण का काम पूरा किया। संघात्मक ढाँचे के वायदे को ताक पर रख कर इस संविधान में भारत को राज्यों के 'यूनियन' के रूप में परिभाषित किया गया न कि राज्यों के 'फेडरेशन' के रूप में (अनु.1)। भारतीय संविधान में केन्द्र की अविभाज्यता को प्रश्नों से परे बता कर विभिन्न राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार और उनके संघ से अलग होने के अधिकार को असंवैधानिक क़रार दिया गया है। जबकि भारत की संसद के पास यह अधिकार है कि वह राज्यों को विभाजित कर सकती है, उनके क्षेत्रों, सीमाओं और यहाँ तक नामों में फेरबदल कर सकती है (अनु. 3)।

भारतीय संविधान में केन्द्र व राज्य के सम्बन्धों से जुड़े जितने भी प्रावधान हैं वे संघात्मक ढाँचे के सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते नज़र आते हैं। संविधान की सातवीं अनुसूची में केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकार क्षेत्रों को विभाजित करती हुई तीन सूचियाँ - संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची मौजूद हैं। इनमें क्रमशः 97, 66 और 47 अधिकार क्षेत्र उल्लिखित हैं। यानी संघ की सूची में कहीं ज़्यादा अधिकार हैं। यही नहीं महत्व की दृष्टि से भी संघ की सूची में उल्लिखित अधिकार ज़्यादा महत्वपूर्ण हैं और राज्य की सूची में प्रशासनिक किस्म के कुछ अधिकार दिये गये हैं। यहाँ तक कि समवर्ती सूची में भी केन्द्र को वरीयता दी गयी है। अवशिष्ट अधिकार (तमेपकनंतल चवूमते) राज्य के पास न होकर केन्द्र के पास हैं। संसद में राज्य सभा को यह अधिकार है यदि उसके दो तिहाई या उससे ज़्यादा सदस्य रज़ामन्द हों तो वह राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मामलों पर भी कानून बना सकती है।

अनु. 257 केन्द्र सरकार को यह अधिकार देता है किसी भी राज्य को निर्देश दे सकती है कि उसके कार्यकारी अधिकार केन्द्र के अधिकारों के आड़े न आयें। किसी राज्य का राज्यपाल उस राज्य की जनता द्वारा नहीं चुना जाता बल्कि केन्द्र द्वारा मनोनीत किया जाता है। राज्यपाल को कई विशेषाधिकार मिले हैं। वह राज्य की विधायिका द्वारा पारित किसी भी बिल को राष्ट्रपति के विचाराधीन रख सकता है। पिछले छह दशकों में राज्यपालों के आचरण से यह स्पष्ट हो गया है कि राज्यपाल राज्य में केन्द्र सरकार के एजेण्ट की भूमिका निभाते हैं। राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति राज्य की असेम्बली को भंग कर सकता है, मंत्रिमण्डल को निरस्त कर सकता है और राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है (अनु. 356)। पिछले छह दशकों में 100 से भी ज़्यादा बार अलग-अलग समयों पर लगभग हर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो चुका है जो संघीय ढाँचे को एक मज़ाक बनाकर रख देता है। यही नहीं आपातकाल लागू होने की स्थिति में केन्द्र सभी राज्यों के विधायी और कार्यकारी अधिकार अपने पास रख सकता है (अनु. 353)। सामान्य परिस्थितियों में भी आई ए एस और आई पी एस जैसी ऑल इण्डिया सर्विसेज़ के ज़रिये राज्यों के प्रशासन तन्त्र पर अपनी पकड़ क़ायम रखता है। ये सर्विसेज़ अपने आप में संघीय व्यवस्था का माखौल उड़ाती हैं। संविधान में केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व के बँटवारे सम्बन्धी प्रावधानों में भी केन्द्र को ज़्यादा अहम राजस्व के स्रोत दिये गये हैं जिसके फलस्वरूप राज्य केन्द्र पर निर्भर रहते हैं। मुद्रा के मुद्रण का अधिकार सिर्फ केन्द्र के पास है।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त भारतीय राज्य की एकात्मक अन्तर्वस्तु के चलते ही पिछले छह दशकों में केन्द्रीय बुर्जुआ राज्य सत्ता ने उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की जनाकांक्षाओं का दमन करने के लिए संविधान का उल्लंघन करने की ज़रूरत ही नहीं हुई। अनु. 370 के माध्यम से कश्मीर को केन्द्र ने वहाँ की जनता की स्वायत्तता और आज़ादी की आकांक्षाओं को कुचलते हुए भारतीय संघ में मिला लिया। उत्तर-पूर्व की राष्ट्रीयताओं के साथ भी भारतीय राज्य की दग़ाबाज़ी का एक लम्बा इतिहास है। उत्तर-पूर्व में 1958 से और कश्मीर में 1990 से घनघोर दमनकारी सैन्य बल विशेष अधिकार कानून (।तउमक थ्वतबमे ैचमबपंस च्वूमते ।बज) लगा है जिसकी वजह से इन राज्यों में वस्तुतः सैनिक शासन की स्थिति है। इसके अतिरिक्त 1975 में भारतीय राज्य ने शातिराना ढंग से सिक्किम को बिना जनमतसंग्रह कराये भारतीय संघ में मिला लिया। ग़ौरतलब है कि ये सभी जनवाद विरोधी क़दम संविधानसम्मत हैं जो भारतीय संविधान की गैरजनवादी अन्तर्वस्तु का जीता जागता उदाहरण है। इस श्रृंखला के अगले अंक में हम विस्तार से चर्चा करेंगे कि किस प्रकार भारतीय राज्य ने कश्मीर और उत्तर पूर्वी राज्यों की राष्ट्रीयताओं के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात किया।

पिछले छह दशकों के पूँजीवादी विकास ने क्षेत्रीय असमानता को पहले से कई गुना बढ़ाया है। जैसा कि हर पूँजीवादी देश में होता है, भारतीय संघात्मक ढाँचा भी कई परिधियों वाले केन्द्र-परिधि सम्मिश्र (सेण्टर-पेरिफ़ेरी कॉम्प्लेक्स) के साँचे में ढलकर सामने आया। इस क्षेत्रीय आर्थिक असमानता का अतिच्छादन जहाँ भी ऐतिहासिक रूप से, सांस्कृतिक-भाषिक रूप से सापेक्षतः पिछड़े क्षेत्र के साथ होता है, वहीं राष्ट्रीयताओं के बीच असमानता और राष्ट्रीय उत्पीड़न की ज़मीन तैयार हो जाती है। परन्तु भारत की स्थिति ज़ारकालीन रूस जैसी नहीं जहाँ रूसी राष्ट्र की स्थिति उत्पीड़क की बनती थी। यहाँ कोई एक राष्ट्र नहीं, बल्कि केन्द्र की भूमिका देश के विभिन्न राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं के लिए अलग-अलग रूपों एवं परिणामों में उत्पीड़नकारी की बनती है। इसका कारण यह है कि कई राज्यों में बँटी हिन्दी पट्टी एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं है, हलाँकि इसमें राष्ट्र के तत्व किसी हद तक मौजूद भी हैं। इसके भीतर तमाम लोकभाषाओं-क्षेत्रीय उपभाषओं-बोलियों के क्षेत्र हैं और एक हद तक सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं। समानता और विभिन्नता के द्वन्द्व-युग्म में, दोनों पक्षों के सन्तुलन के अलग-अलग मामले में अलग-अलग स्थिति है। ऐसा भी नहीं कि किसी एक राष्ट्र का पूँजीपति हावी-प्रभावी हो। पर चूँकि सत्ता का केन्द्र (दिल्ली) हिन्दी भाषी क्षेत्र में है और हिन्दी क्षेत्र के बुद्धिजीवी नौकरशाही, मीडिया व संस्कृति के राष्ट्रीय परिदृश्य पर अपनी स्पष्ट बढ़त बनाये हुए हैं और बीच-बीच में हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में ऊपर से लादने के पक्ष में भी हिन्दी बुद्धिजीवी और राजनेता आवाज़ उठाते हैं, इसलिए न केवल दक्षिण भारत में राष्ट्रीयताएँ बल्कि बंगाली और पंजाबी राष्ट्रीयताएँ भी (जिनमें से ज़्यादातर आर्थिक दृष्टि से हिन्दी प्रदेशों से उन्नत हैं) सांस्कृतिक अलगाव और उत्पीड़न महसूस करती हैं। यह एक वास्तविक स्थिति है, पर उत्पीड़क की स्थिति में कोई ''हिन्दी राष्ट्र '' (यह मिथ्याभासी चेतना है) नहीं, बल्कि केन्द्र की बुर्जुआ सत्ता है।

पूँजीवादी विकास के फलस्वरूप अलग-अलग राज्यों और राष्ट्रीयताओं में क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग भी पैदा हुआ है। इस क्षेत्रीय बुर्जुआजी की परिपक्वता के साथ ही साथ केन्द्रीय बुर्जुआजी से इसके अन्तर्विरोध भी बढ़े हैं। इनमें से अधिकांश इसी व्यवस्था के दायरे में अन्तर्विरोधों को हल करने के पक्षधर हैं। पिछले दो दशकों से केन्द्र में मिली-जुली सरकारों का अस्तित्व इसी की निशानी है और यह दर्शाता है कि केन्द्रीय बुर्जुआजी से मोल-तोल में भी क्षेत्रीय बुर्जुआजी की ताकत बढ़ी है। क्षेत्रीय बुर्जुआजी विभिन्न राष्ट्रीयताओं की जनता को असली मुद्दों से दूर करके अन्य राज्यों के प्रवासी मज़दूरों को वापस भेजने, नये राज्य बनाने अथवा नदियों के जल के बँटवारे जैसे मुद्दे उछालकर क्षेत्रीय अन्धराष्ट्रवादी भावनायें फैलाती है और लोगों की वर्ग-चेतना को भोथरा कर इस व्यवस्था की उम्र लम्बी करने मे अपनी भूमिका अदा करती है। इस प्रकार यह क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने की बजाय उसे आपस में बाँटने का ही काम करता है।

एक अतिकेन्द्रित राज्य सत्ता की निगरानी में हुए पूँजीवादी विकास से अपरिहार्य रूप से जो क्षेत्रीय असन्तुलन और जनअसंतोष उत्पन्न हुआ उस पर काबू पाने के मक़सद से 1980 के दशक से ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सबसे भरोसेमन्द पार्टी कांग्रेस ने पंचायती राज का शिगूफ़ा उछालकर सत्ता के

'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' पर संगोष्ठी की रिपोर्ट

(पेज 10 से आगे)

कि विवाह के रिश्तों में प्रतिबन्ध बुर्जुआ सम्पत्ति को और ज़्यादा पवित्र ही बनाते हैं। इसलिए पूँजीवाद से इसका कोई अन्तरविरोध नहीं है। जाति व्यवस्था के बने रहने का दूसरा कारण पूँजीवादी राजनीति के चुनावी समीकरण हैं, जिसमें शासक वर्ग के अलग-अलग हिस्से भी आपस में जातिगत आधारा पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, और साथ ही जनता को भी वे जातिगत आधार पर बाँटकर ही राज कर सकते हैं। इस रूप में जाति की विचारधारा हर युग में अपने परिवर्तनों के साथ शासक वर्गों के हाथों में एक कारगर औज़ार साबित हुई है। आज की जाति व्यवस्था को पूँजीवादी जाति व्यवस्था कहा जाना चाहिए क्योंकि हर उत्पादन पद्धति ने अपने हितों के अनुसार जाति व्यवस्था को सहयोजित किया है, उसे समायोजित किया है और परिवर्तित किया है।

पाँचवे दिन की शुरुआत 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर के आलेख 'अम्बेडकरवाद और दलित मुक्ति' से हुई। सुखविन्दर ने अपने आलेख में प्रदर्शित किया कि अम्बेडकर के चिन्तन में कोई निरन्तरता नहीं है। सामाजिक एजेण्डे के प्रश्न पर पहले वह हिन्दू धर्म में ही सुधार करना चाहते थे; बाद में उन्होंने बुद्धवाद में धर्मान्तरण के रास्ते की वकालत की; और मरने से पहले उन्होंने इसे भी नाकाफ़ी करार दिया। उनका चिन्तन निरीश्वरवादी चिन्तन नहीं था और उनका मानना था कि समाज में धर्म रहना चाहिए क्योंकि इसी से समाज में कोई आचार या अच्छे मूल्य रहते हैं। इसलिए वे कम्युनिस्टों और निरीश्वरवादियों की नास्तिकता पर हमला करते थे। आर्थिक पहलू देखें तो अम्बेडकर के पास जो आर्थिक कार्यक्रम था वह पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद का ही कार्यक्रम था; बल्कि नेहरू का पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद का एजेण्डा कुछ मायनों में अम्बेडकर से ज़्यादा रैडिकल था, या कम-से-कम दिखता था। जाति के ख़ात्मे के लिए उन्होंने जो रास्ता सुझाया वह शहरीकरण और उद्योगीकरण का था। लेकिन इतिहास ने दिखलाया है कि शहरीकरण और उद्योगीकरण ने जाति का स्वरूप बदल डाला है, लेकिन उसका ख़ात्मा नहीं किया। अम्बेडकर राजनीतिक तौर पर पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं देते थे। उनकी राजनीति अधिक से अधिक रैडिकल व्यवहारवाद और संविधानवाद तक जाती थी। जनता इतिहास को बदलने वाली शक्ति होती है, इसमें उनका कभी यकीन नहीं था, बल्कि वे नायकों की भूमिका को प्रमुख मानते थे। इसीलिए उन्होंने जाति के उन्मूलन में बुद्धिजीवियों की भूमिका को सबसे अहम बताया है। यहाँ तक कि उनकी रचना 'जाति का उन्मूलन' में वह कहीं भी नहीं बताते कि जाति का उन्मूलन कैसे होगा; उल्टे अन्त में वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जाति का उन्मूलन हो ही नहीं सकता क्योंकि ब्राह्मण ऐसा होने नहीं देंगे। जाहिर है, ब्राह्मणों से इजाज़त लेकर जाति का ख़ात्मा नहीं हो सकता है। अम्बेडकर अन्त में बौद्ध धर्म को अपना लेने में ही दलितों की मुक्ति देख रहे थे। लेकिन इतिहास ने प्रदर्शित कर दिया है कि बौद्ध धर्म अपनाने वाले दलित नवबौद्ध कहलाये और उस धर्म में भी जाति का प्रवेश हो गया। वहाँ भी उनकी स्थिति दलितों जैसी ही बनी रही। साथ ही, अम्बेडकर का पूरा राजनीतिक कैरियर जाति के ख़ात्मे के प्रति उनके सरोकार के बावजूद राजनीति समझौतापरस्ती, अंग्रेज़परस्ती और अनिरन्तर चिन्तन का आईना है। ऐसे में, अम्बेडकर को आलोचना के दायरे में खड़ा किये बग़ैर दलित मुक्ति की परियोजना एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकती। जब तक अम्बेडकर को आलोचना से परे एक पूज्य मूर्ति बनाकर रखा जायेगा, दलित आन्दोलन एक गोल चक्कर में घूमता रहेगा।

प्रसिद्ध बुद्धिजीवी और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शिक्षक प्रो. तुलसी राम ने सुखविन्दर के आलेख से असहमति जताते हुए कहा कि अम्बेडकर के प्रति सही दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। उनके अनुसार आज अम्बेडकर को कम्युनिस्टों को अपना लेना चाहिए। अम्बेडकर ने एक वैकल्पिक इतिहास और समाजशास्त्र दिया। उन्होंने जाति के इतिहास पर जो कार्य किया वह दिखलाता है कि वह कितने बड़े बुद्धिजीवी थे। प्रो. तुलसीराम ने कहा कि अम्बेडकर का मार्क्सवाद और कम्युनिस्टों के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख का कारण कम्युनिस्टों का व्यवहार था। इसे उनके मज़दूर-विरोध के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। इसीलिए उन्होंने इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी बनायी, जिससे वह अपने आपको मज़दूर आन्दोलन से जोड़ना चाहते थे। लेकिन बाद में, उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया बना ली। अम्बेडकर ने राजकीय समाजवाद की बात की थी, जो दिखलाता है कि वह भी समाजवाद के पक्षधर थे। उनका यह भी कहना था कि जब तक हिन्दू धर्म और ब्राह्मणवाद ख़त्म नहीं होगा तब तक दलित समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। उनके वक्तव्य के बाद अभिनव ने प्रो. तुलसी राम के वक्तव्य पर स्पष्टीकरण रखते हुए कहा कि सवाल अम्बेडकर को ख़ारिज करने का नहीं बल्कि यह तय करने का है उनसे क्या सीखा जा सकता है। हर वक्ता आकर यह कहता है कि हमारा रुख़ अम्बेडकर के प्रति नरम होना चाहिए वरना दलित कभी आपकी बात नहीं सुनेंगे। हमारा कहना है कि तुष्टिकरण और असत्य की राजनीति आज तक कम्युनिस्ट कहाँ दलितों को जीत पाये। अम्बेडकर के प्रश्न पर आत्मसमर्पणवादी और क्षमायाचक रुख़ अपनाने का समय अब बीत चुका है क्योंकि इससे पहले ही बहुत नुकसान हो चुका है। अभिनव ने कहा कि प्रो. तुलसी राम ने अम्बेडकर को एक महान अध्येता बताया लेकिन यह नहीं बताया कि उनके वैकल्पिक इतिहास और राजनीति में क्या सही था? अगर वह राजकीय समाजवाद की बात कर रहे हैं, तो यह वास्तव में राजकीय पूँजीवाद था। राजकीय समाजवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती। समाजवाद का असली पैमाना होता है राज्यसत्ता का वर्ग चरित्र। अगर पूँजीवादी राज्यसत्ता के तहत सबकुछ पब्लिक सेक्टर के तहत हो तो वह समाजवाद नहीं हो जाता। अम्बेडकर का पूरा आर्थिक कार्यक्रम इसी राजकीय पूँजीवाद पर समाप्त हो जाता था। जहाँ तक बात है बौद्ध धर्म में धर्मान्तरण के ज़रिये हिन्दू धर्म का ख़ात्मा करने का, तो इस रास्ते की विफलता आज सामने आ चुकी है। अम्बेडकर कम्युनिस्टों के व्यवहार से नहीं चिढ़े थे, वे कम्युनिस्टों की विचारधारा से नफ़रत करते थे। यही कारण था कि उन्होंने मार्क्सवाद को 'सुअरों का दर्शन' कहा था। वास्तव में, यहाँ अम्बेडकर ड्यूई के सच्चे अनुयायी की तरह बात कर रहे थे। अम्बेडकर अगर आज जीवित होते तो वह खुद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से किसी भी किस्म के मोर्चे के ख़िलाफ़ होते। यही उनकी सोच थी। अभिनव ने कहा कि जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में भी प्रो. तुलसीराम ने महज़ एक दृष्टिकोण रखा है, जो उनकी सोच को पुष्ट करने में सहायता करे, जबकि उन सभी ऐतिहासिक प्रश्नों पर मार्क्सवादी इतिहासकारों में लम्बी और गम्भीर बहस है। अगर आज सबसे अधिक मान्य और प्रमाणों द्वारा पुष्ट इतिहास-लेखन को देखें, तो पता चलता है कि अम्बेडकर की जाति व्यवस्था के इतिहास के बारे में समझदारी बेहद कमज़ोर थी, और उनका अध्ययन भी बेहद कमज़ोर था। मार्क्सवाद के बारे में भी अम्बेडकर की कोई समझदारी नहीं थी और मार्क्सवादी के बारे में उनकी ज़्यादातर विरोधी टिप्पणियाँ यही बताती हैं, कि वह बिना पढ़े बोल रहे थे। इसलिए अम्बेडकर से क्या सीखा जाय और क्या नहीं इसके बारे में नाम लेकर और विशिष्ट तौर पर बात होनी चाहिए, अन्यथा ऐसी कोई भी अपील वास्तव में तुष्टिकरण की राजनीति होगी।

पाँचों दिन जो बहस जाति प्रश्न पर चलती रही, उसने दिखलाया कि इस प्रश्न पर पाँच दिन भी कम थे बात करने के लिए। जितने सवालों के जवाब मिले उतने ही नये सवाल भी खड़े हुए। अरविन्द स्मृति न्यास की तरफ़ से आख़िरी दिन संगोष्ठी के समापन पर बोलते हुए सत्यम वर्मा ने कहा कि आगे भी इस विषय पर संवाद की ज़रूरत इस संगोष्ठी ने सिद्ध कर दी है। और आगे अरविन्द स्मृति न्यास की तरफ़ से इस विषय पर संगोष्ठियों, विचार-विमर्श और परिचर्चा आदि का आयोजन किया जायेगा। संगोष्ठी के दौरान द्वितीय अरविन्द स्मृति संगोष्ठी के आलेखों के संकलन का लोकार्पण भी किया गया। संगोष्ठी का समापन सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के गीत 'अभी लड़ाई जारी है...' के साथ किया गया।

– प्रस्तुतिः बिगुल टीम

सरकार की मानसिक विकलांगता और आमिर खान की कुपोषित बौद्धिकता

कोई भी जनता की सरकार और जनता का वास्तविक बुद्धिजीवी देश की मेहनतकश जनता के बीच जाकर उनके दु:ख दर्द से जब गहरी तदनुभुति स्थापित करता है। उनके दर्द को अपना दर्द समझता है। तब वह जनता के दु:खों के वास्तविक कारणो का पता लगाकर उसका वास्तविक समाधान प्रस्तुत कर सकता है। मगर पूँजीवादी मीडिया द्वारा ब्राण्ड के रूप में गढ़े गये छद्म बु)जीवी किसी भी समस्या का छद्म समाधान ही प्रस्तुत कर सकते हैं।

आजकल भारत सरकार के कई मंत्रालय, टेलिविजन और अखबारों में विज्ञापन दे रहे हैं जिसमें भोंपू के रूप में आमिर खान नजर आ रहे हैं। यह विज्ञापन सरकार की मानसिक विकलांगता और आमिर खान साहब की कुपोषित बौद्धिकता का अनुपम उदाहरण है। एक विज्ञापन में बताया जा रहा है कि ष्देश का हर दूसरा बच्चा कुपोषण का शिकार है, इसलिए हमें कुपोषण के खिलाफ जंग छेड़ देनी चाहिएष्द्धमगर कागज की तलवार लेकरऋ। परिणाम स्वरूप सरकार कुछ दलिया, कुछ बिस्कुट, कुछ आयरन की गोलियाँ भीख के रूप में जनता में बाँट देती है। मगर विज्ञापन यह नहीं बताता कि कुपोषण का मूल कारण क्या है और उसका निवारण क्या है। क्यूँकि ऐसा करने से सरकार की पूँजीपरस्त नीतियाँ कठघरे में खड़ी हो जायेंगी, जिनका फायदा उठाकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों ने देश की मेहनतकश जनता के खून और पसीने को इस कदर लूटा है कि जनता दरिद्रता के उस मुकाम पर पहुँच चुकी है यहाँ पर वह पोषण युद्र भोजन तो दूर कई जगह पीने का साफ पानी तक नहीं जुटा पा रही है।

दूसरा विज्ञापन जिसमें बताया जा रहा है कि ष्बाल श्रम एक दण्डनीय अपराध है। 14 साल से कम उम्र के बच्चों से श्रम न करवायें, इनकी जगह यहाँ नहीं स्कूल में है।ष लेकिन विज्ञापन में कहीं यह नहीं बताया गया कि छोटी उम्र के बच्चे काम क्यूँ करते हैं। क्या उन्हें काम करने का शौक है या माँ-बाप नहीं चाहते कि उनका बच्चा पढ़े-लिखे खेले-कूदे ? फिर बच्चे काम क्यूँ करते हैं ! कई बार श्रम-विभाग जिन बच्चों को छापे मारकर छुडाता है वह फिर कहीं और काम करने लगते हैं और काम न मिलने पर कई अपराध की तरफ भी मुड़ जाते हैं।

तीसरे विज्ञापन में खदानों और कारखानों में सुरक्षा उपकरण न मिलने से मज़दूरों के भारी पैमाने पर सिलिकोसिस व टी.बी का शिकार होकर मर जाने के बारे में बताया गया है व इन बीमारियों को खत्म करने के बारे में तमाम हवाई बातें की गयी हैं। मगर यह कहीं नहीं बताया गया कि श्रमिकों को सुरक्षा उपकरण क्यों नहीं मिल रहे हैं, इस संबंध में कानून क्या है और उसका पालन न करने वाले पूँजीपतियों पर क्या कार्रवाई हो रही है? इस पर विज्ञापन पूरी तरह चुप है !

अब बात करते हैं कि इन तीनों समस्याओं का वास्तविक क्या है और निवारण क्या है। इन तीनों समस्याओं का एक ही कारण है - उत्पादन और वितरण की मुनाफाखोर नीतियाँ। जिसमे जी.डी.पी का बढ़ना देश के विकास का मुख्य पैमाना माना जाता है और जी.डी.पी तब बढ़ती है जब पूँजीपतियों के मुनाफे में वृद्धि हो और मुनाफा तब बढ़ता है जब मेहनत सस्ती हो यानी मज़दूरों की मज़दूरी कम हो। मज़दूरी कम होने का मतलब गरीबी, गरीबी का मतलब कुपोषण, भूखमरी, बाल श्रम, अपराध आदि। दूसरा उसी मुनाफे की अंधी हवस में पूँजीपति सुरक्षा के उपायों पर भी ध्यान नहीं देते। सरकारें खुद भी पूँजीपतियों को आश्वासन देती हैं कि हमारे यहाँ कारखाने लगाइये हम आपको श्रम कानून तोड़ने की पूरी आजादी देंगे और जरूरत पड़ने पर कानून बदल भी देंगे और इस वायदे को वो हर कीमत पर पूरा भी करती है।

अब सवाल उठता है कि सरकार और आमिर खान साहब को यह आसान सी बातें समझ में क्यूँ नहीं आ रही हैं जो हमें समझ में आ रही हैं! जबकि सरकार के मंत्री-मण्डल में उच्च शिक्षा लोगों की भरमार है। कई तो विदेशों से भी शिक्षा प्रापत किये हैं! फिर ये बात उन्हें समझ क्यों नहीं आती। दरसल वे सब समझते हैं और सबकुछ जानते-समझते हुए भी वे कुछ करना नहीं चाहते केवल घड़ियाली आँसू बहाकर दिखाना चाहते हैं कि हम जनता को लेकर कितने चिंतित हैं।

नब्बे के दशक से जब से भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ लागू की गई तबसे देश में असमानता लगातार तेजी से बढ़ी है। मुठ्ठी भर लोग अमीर होते जा रहे हैं जबकि देश के मेहनतकश लोग लगातार गरीब होते जा रहे हैं। कुछ वर्षों तक सरकारों ने डबल डिजिट विकास दर, शाइनिंग इण्डिया, फीलगुड जैसे नारों का शोर पैदा कर गरीबों की चीखों को दबा दिया। मगर आज जब तथाकथित विकास का बुलबुला फूट चुका है। खुद सरकार द्वारा बनाई गयी अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी ने चमकते भारत के मुखौटे को फाड़कर असली भारत का चेहरा सामने ला दिया। तब सरकार के सामने कोई चारा नहीं रह गया सच्चाई को स्वीकार करने के अलावा, लेकिन सच्चाई को स्वीकार करने का ये मतलब नहीं कि सरकार समाधान चाहती है। इस पर मुझे हावर्ड फास्ट के प्रसिद्ध उपन्यास आदि-विद्रोही के प्रमुख्य पात्र चालबाघ और राजनीतिज्ञ सिसेरो का संवाद याद आता है। जिसमें वह कहता है कि राजनीतिज्ञ का एक प्रमुख्य गुण है जिसका लोग बहुत ऊँचा मूल्यांकन करते हैं वह है सच्चाई को खुलेआम मान लेना उसे स्वीकार करना। हमारे इसे यथार्थवादी होने से जनता में हमारे ईमानदार होने का भ्रम फैलता है। विज्ञापन दिखाकर सरकार व उनके भौंपू सिसेरो के रास्ते पर चलकर भ्रम की चादर फैला रहे हैं।

- प्रमोद

मई दिवस की क्रान्तिकारी विरासत से प्रेरणा लो!

(पेज 1 से आगे)

और अपने आकाओं की चुनावी गोट लाल करना है। आज तो हालत यह हो गयी है कि कई एक कारख़ानों के मालिकान भी मई दिवस के दिन मज़दूरों को लड्डू बँटवाते हैं या यूनियन-मैनेजमेण्ट मिलकर प्रीतिभोज का आयोजन करते हैं। मई दिवस के शहीदों का भला इससे बढ़कर भी कोई अपमान हो सकता है? मज़दूर वर्ग को अर्थवाद, ट्रेडयूनियनवाद और संसदवाद की चौहद्दी से बाहर निकालकर, व्यापक मज़दूर एकता की ज़मीन पर राजनीतिक संघर्षों को संगठित करने की शुरुआत करके ही आज हम मई दिवस की गरिमा वास्तव में बहाल कर सकते हैं और सही मायने में मई दिवस के महान शहीदों की शानदार परम्परा के सच्चे वारिस बन सकते हैं।

हमें आम मज़दूर साथियों को राजनीतिक संघर्ष और आर्थिक संघर्ष के बीच के अन्तर को अच्छी तरह समझाना होगा। तभी वे मई दिवस के ऐतिहासिक महत्त्व को वास्तव में जान सकेंगे। किसी कारख़ाना या उद्योग में काम करते हुए मज़दूर अपनी पगार, पेंशन भत्ते आदि को लेकर आर्थिक संघर्ष करते हैं और इस दौरान उन्हें अपनी संगठित शक्ति का अहसास होता है तथा वे लड़ना सीखते हैं। अलग-अलग उद्योगों या कारख़ानों के मज़दूर अपने-अपने मालिकों के ख़िलाफ़ अलग-अलग आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ते हैं उनकी यह लड़ाई एक समूचे वर्ग के रूप में, समूचे पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ नहीं होती। लेकिन साथ ही, वे कुछ ऐसी लड़ाइयाँ भी लड़ना शुरू करते हैं जो समूचे मज़दूर वर्ग की साझा माँगों को लेकर होती हैं – जैसे आवास, स्वास्थ्य आदि सुविधाओं की माँग, पक्की नौकरी की गारण्टी या ठेका प्रथा की समाप्ति की माँग, सभी मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी तय करने की माँग या काम के घण्टे तय करने की माँग आदि। जब सभी पेशों के मज़दूरा इन आम माँगों पर एकजुट होकर लड़ते हैं तो अपने-अपने पेशों से बँधी हुई उनकी संकुचित मनोवृत्ति भी टूटती है और मज़दूर वर्ग के रूप में उनकी व्यापक एकता क़ायम होती है। ये राजनीतिक संघर्ष पूरे पूँजीपति वर्ग और उनकी राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ समूचे मज़दूर वर्ग को एकजुट कर देते हैं और जनता के अन्य वर्गों के साथ भी उनके मोर्चाबन्द होने का आधार तैयार कर देते हैं। मज़दूर वर्ग के ये राजनीतिक संघर्ष पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता को मजबूर करते हैं कि वह क़ानून बनाकर उनके काम के घण्टे निर्धारित करे, उनकी सेवा-शर्तें तय करे, उनकी नौकरी की सुरक्षा की कमोबेश गारण्टी दे तथा मालिकों के ऊपर क़ानूनी बन्दिशें लगाकर उन्हें मज़दूरों को विभिन्न बुनियादी सुविधाएँ देने के लिए बाध्य करे ताकि संगठित मज़दूरों की शक्ति पूँजीवादी व्यवस्था के ही सामने अस्तित्व का संकट न खड़ा कर दे। लेकिन किसी भी पूँजीवादी व्यवस्था में मज़दूर वर्ग द्वारा लड़कर हासिल किये जाने वाले राजनीतिक अधिकारों की एक सीमा होती है, जो धीरे-धीरे मज़दूर वर्ग के सामने साफ़ होती जाती है। पूँजीवादी जनवाद का असली चेहरा तब पूँजीपति वर्ग की तानाशाही के रूप में सामने आ जाता है। तब मज़दूर वर्ग इस सच्चाई को समझने लगता है कि असली सवाल पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को ही बदल डालने का है और यह काम पूँजीवादी राज्यसत्ता को चकनाचूर किये बिना अंजाम नहीं दिया जा सकता। राजनीतिक संघर्ष करते हुए ही मज़दूर वर्ग अपने ऐतिहासिक मिशन से परिचित होता है और यह समझता है सर्वहारा क्रान्ति होकर रहेगी। वह क्रान्ति के विज्ञान को आत्मसात करता है और समाजवादी व्यवस्था के अग्रदूत की भूमिका निभाने के लिए अपने को तैयार करता है।

आर्थिक संघर्ष मज़दूर वर्ग का बुनियादी संघर्ष है। इसके ज़रिये वह लड़ना और संगठित होना सीखता है। मुख्यत: ट्रेडयूनियनें इस संघर्ष के उपकरण की भूमिका निभाती हैं और इस रूप में वर्ग-संघर्ष की प्राथमिक पाठशाला की भूमिका निभाती हैं। लेकिन आर्थिक संघर्ष मज़दूर वर्ग को सिर्फ़ कुछ राहत, कुछ रियायतें और कुछ बेहतर जीवनस्थितियाँ ही दे सकते हैं। वे अलग-अलग पेशों में बँटे हुए मज़दूरों को उनकी व्यापक वर्गीय एकजुटता की ताक़त का अहसास नहीं करा सकते। न ही वे उन्हें इस बात का अहसास करा सकते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करके अपने को मुक्त करना सम्भव है। केवल राजनीतिक माँगों पर संघर्ष के द्वारा ही ऐसा हो सकता है।

मज़दूर आन्दोलनों का इतिहास और मज़दूर क्रान्ति का विज्ञान हमें बताता है कि आर्थिक संघर्ष कभी भी अपनेआप, स्वयंस्फूर्त ढंग से राजनीतिक संघर्ष में रूपान्तरित नहीं हो जाते। आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ शुरू से ही मज़दूर वर्ग राजनीतिक संघर्षों को भी चलाये, तभी मज़दूर वर्ग पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध अपने संघर्ष को आगे बढ़ा सकता है। राजनीतिक संघर्ष तब तक रोज़मर्रा के संघर्षों के अंग के तौर पर प्रारम्भिक अवस्था में होते हैं तभी तक ट्रेडयूनियनों के माध्यम से उनका संचालन सम्भव होता है। एक मंज़िल आती है जब राजनीतिक संघर्ष के लिए सर्वहारा वर्ग के किसी ऐसे संगठन की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है जो सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान की सुसंगत समझदारी से लैस हो। यह संगठन पूँजीवाद के आर्थिक ताने-बाने, राजनीतिक तन्त्र और पूरी सामाजिक संरचना को भलीभाँति समझने के बाद उसके विकल्प का ख़ाक़ा पेश करता है; पूँजीवादी राज्यसत्ता को ध्वस्त करके सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना करने तथा समाजवाद का निर्माण करने के कार्यक्रम और रास्ते से सर्वहारा वर्ग को शिक्षित करता है और उस रास्ते पर आगे बढ़ने में सर्वहारा वर्ग को नेतृत्व देता है। ट्रेडयूनियन आज भी वर्ग-संघर्ष की प्राथमिक पाठशाला है, लेकिन वैज्ञानिक समाजवाद की विचारधारा के मार्गदर्शन में संगठित पार्टी ही पूँजीवादी व्यवस्था का नाश करके सर्वहारा वर्ग की आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक मुक्ति के संघर्ष को अंजाम तक पहुँचा सकती है, यही सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान की – मार्क्सवाद-लेनिनवाद की शिक्षा है और बीसवीं सदी के दौरान इतिहास इसे सही साबित कर चुका है। हमें इस शिक्षा को कभी भूलना नहीं होगा।

मई दिवस

आज घोषणा करने का दिन
हम भी हैं इंसान
हमें चाहिए बेहतर दुनिया
करते हैं ऐलान
घृणित दासता किसी रूप में
नहीं हमें स्वीकार
मुक्ति हमारा अमिट स्वप्न है
मुक्ति हमारा गान

पिछले बीस वर्षों के दौरान उत्पादन के ढाँचों में बदलाव करके पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की संगठित शक्ति को बिखराने में काफ़ी हद तक कामयाब हुआ है। कारखानों में अधिकांश काम अब ठेका, दिहाड़ी या कैजुअल मज़दूरों से कराना आम चलन बन चुका है। हमारे देश में आज कुल मज़दूर आबादी का लगभग 93 प्रतिशत तथाकथित असंगठित क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। मज़दूर वर्ग के इस भौतिक बिखराव ने उसकी चेतना पर भी काफ़ी नकारात्मक असर डाला है। वह अपनी ताक़त को बँटा हुआ और पूँजीपति वर्ग की संगठित शक्ति के सामने खुद को कमज़ोर, असहाय और निरुपाय महसूस कर रहा है। आज मज़दूर आबादी को संगठित करने की व्यावहारिक चुनौतियाँ बढ़ गयी हैं और संगठन के पुराने प्रचलित तरीकों और रूपों से काम नहीं चलने वाला है। लेकिन कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं हो सकती कि बुर्जुआ वर्ग द्वारा उपस्थित की गयी चुनौती के सामने सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि हाथ खड़े कर दें। हमें मज़दूर वर्ग को संगठित करने के नये रूपों और तरीक़ों को ईजाद करना होगा। दरअसल कारख़ाना-केन्द्रित ट्रेड यूनियनवाद से पीछा छुड़ाये बिना आज मज़दूर आन्दोलन को नये सिरे से संगठित ही नहीं किया जा सकता। मज़दूरों को संगठित करने की तात्कालिक व्यावहारिक चुनौतियों से निपटना मज़दूरों के क्रान्तिकारी हरावलों का काम है। ज़मीनी संगठनकर्ताओं को पुरानी रूढ़ियों से मुक्त होकर सर्जनात्मक तरीके से संगठन के नये-नये रूप और तरीक़े खोज निकालने होंगे।

अगर आज की परिस्थिति पर थोड़ा गहराई से विचार किया जाये तो हमें वे छुपी हुई क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ नज़र आयेंगी जो आँखों से ओझल होने पर सामने मौजूद फ़ौरी चुनौतियाँ ज़्यादा कठिन लगने लगती हैं। आज के दौर में औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूर वर्ग के काम के जो हालात हैं और पूँजीपतियों का समूचा गिरोह, उनकी सरकारें और पुलिस-क़ानून- अदालतें जिस तरह उसके ऊपर एकजुट होकर हमले कर रही हैं उससे मज़दूर वर्ग स्वयं यह सीखता जा रहा है कि उसकी लड़ाई अलग-अलग पूँजीपतियों से नहीं बल्कि समूची व्यवस्था से है। यह ज़मीनी सच्चाई अर्थवाद के आधार को अपनेआप ही कमज़ोर बना रही है और मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना के उन्नत होने के लिए अनुकूल ज़मीन मुहैया करा रही है। इसकी सही पहचान करना और इस आधार पर मज़दूर आबादी के बीच घनीभूत एवं व्यापक राजनीतिक प्रचार की कार्रवाइयाँ संचालित करना ज़रूरी है। मज़दूरों की व्यापक आबादी को यह भी बताया जाना चाहिए कि असेम्बली लाइन का बिखराव आज भले ही मज़दूरों को संगठित करने में बाधक है लेकिन दूरगामी तौर पर यह फ़ायदेमन्द है। यह मज़दूर वर्ग की ज़्यादा व्यापक एकता का आधार तैयार कर रहा है और कारख़ाना-केन्द्रित और पेशागत संकुचित मनोवृत्ति को दूर करने में भी मददगार साबित होगा। इसने मज़दूर वर्ग की विश्वव्यापी एकजुटता का आधार भी मज़बूत किया है। अब 'दुनिया के मज़दूरो, एक हो!' का विश्व ऐतिहासिक नारा एक व्यावहारिक नारे की ओर बढ़ता जा रहा है।

मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी एकता ही आज मई दिवस का सन्देश हो सकता है। इस एकता के बारे में लेनिन के इस उद्धरण पर ग़ौर किया जाना चाहिए :

"मज़दूरों को एकता की ज़रूरत अवश्य है और इस बात को समझना महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें छोड़कर और कोई भी उन्हें यह एकता "प्रदान" नहीं कर सकता, कोई भी एकता प्राप्त करने में उनकी सहायता नहीं कर सकता। एकता स्थापित करने का "वचन" नहीं दिया जा सकता – यह झूठा दम्भ होगा, आत्मप्रवंचना होगी; एकता बुद्धिजीवी ग्रुपों के बीच "समझौतों" द्वारा "पैदा" नहीं की जा सकती। ऐसा सोचना गहन रूप से दुखद, भोलापन भरा और अज्ञानता भरा भ्रम है।"

"एकता को लड़कर जीतना होगा, और उसे स्वयं मज़दूर ही, वर्गचेतन मज़दूर ही अपने दृढ़, अथक परिश्रम द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।"

"इससे ज़्यादा आसान दूसरी चीज़ नहीं हो सकती है कि "एकता" शब्द को गज-गज भर लम्बे अक्षरों में लिखा जाये, उसका वचन दिया जाये और अपने को "एकता" का पक्षधर घोषित किया जाये। परन्तु, वास्तव में, एकता आगे बढ़े हुए मज़दूरों के परिश्रम तथा संगठन द्वारा ही आगे बढ़ायी जा सकती है।" ('त्रुदोवाया प्राव्दा', अंक-2, 30 मई, 1914)

मई दिवस का आज एकमात्र यही सन्देश हो सकता है कि वर्ग-चेतन मज़दूरों को आगे बढ़कर, लड़कर, अपने परिश्रम से अपनी एकता हासिल करनी होगी और राजनीतिक संघर्षों के नये सिलसिले का सूत्रपात करना होगा। मज़दूर आन्दोलन को एक बार फिर क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना के एक नये युग में प्रवेश करना होगा और इक्कीसवीं सदी की नयी सर्वहारा क्रान्तियों की तैयारी में जुट जाना होगा।

"इन माँगों में सबसे पहली माँग होगी आठ घण्टे के कार्य-दिवस की आम माँग, जो सभी देशों के सर्वहारा-वर्ग ने की है। इस माँग का सबसे पहले रखा जाना खारकोव के मज़दूरों की अन्तरराष्ट्रीय समाजवादी मज़दूर आन्दोलन के साथ एकजुटता के अहसास को दर्शाता है और निश्चित रूप से इसी लिए इस माँग को छोटी-मोटी आर्थिक माँगों से नहीं मिलाया जाना चाहिए, जैसे – फोरमैन द्वारा अच्छे बर्ताव की माँग या तनख़्वाह में दस फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी की माँग। आठ घण्टे के कार्य-दिवस की माँग पूरे सर्वहारा वर्ग की माँग है और सर्वहारा उसे एक-एक मालिक के सामने नहीं बल्कि सरकार के सामने रखता है, क्योंकि ये ही आज के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। सर्वहारा वर्ग यह माँग समूचे पूँजीपति वर्ग के सामने रखता है जो सभी उत्पादन के साधनों का मालिक है।"

– लेनिन

मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक कार्ल मार्क्स के जन्मदिवस (5 मई) के अवसर पर

मार्क्स – क्रान्तिकारियों के शिक्षक और गुरु

• विल्हेल्म लीबक्नेख़्ट

मार्क्स के साथी और जर्मन मज़दूर आन्दोलन के एक प्रमुख नेता

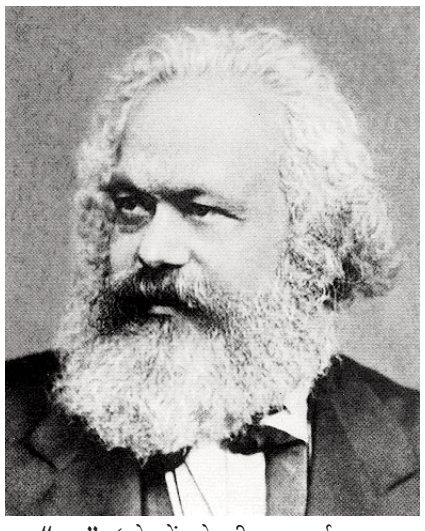

"मूर" (दोस्तों के बीच मार्क्स का नाम) हम "तरुणों" से 5 या 6 साल ही बड़े थे, लेकिन हमारे सम्बन्ध में अपनी परिपक्वता की गुरुता का उन्हें पूरा एहसास था और हम लोगों की, ख़ासकर मेरी, जाँच के लिए हर अवसर से लाभ उठाते थे। उनके प्रकाण्ड अध्ययन तथा अद्‌भुत स्मरण-शक्ति के कारण हममें से कइयों को लोहे के चने चबाने पड़ते थे। हममें से किसी न किसी "विद्यार्थी" को कोई टेढ़ा प्रश्न देकर और उसके आधार पर हमारे विश्वविद्यालयों तथा हमारी वैज्ञानिक शिक्षा की पूर्ण निस्सारता सिद्ध करने में उन्हें मज़ा आता था।

लेकिन उन्होंने शिक्षा भी दी और उनकी शिक्षा योजनाबद्ध थी। उनके बारे में मैं संकुचित और व्यापक दोनों अर्थों में कह सकता हूँ कि वे मेरे गुरु थे और यह बात सभी क्षेत्रों पर लागू होती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र की तो मैं बात ही नहीं करता, क्योंकि पोप के महल में पोप की बात नहीं की जाती। कम्युनिस्ट लीग में राजनीतिक अर्थशास्त्र पर उनके व्याख्यानों की बात मैं बाद में करूँगा। मार्क्स को प्राचीन और आधुनिक भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था। मैं भाषाविद् था और अरस्तु अथवा एस्कीलस का कोई ऐसा कठिन अंश मुझे दिखाने का अवसर पाकर उन्हें बच्चों जैसी ख़ुशी होती थी, जो मैं फ़ौरन नहीं समझ सकता था। उन्होंने एक दिन मुझे इसलिए बहुत बुरा-भला कहा कि

मैं स्पेनी भाषा नहीं जानता था और मार्क्स किताबों के एक ढेर में से डॉन क्विक्ज़ोट निकालकर मुझे स्पेनी के सबक़ देने लगे। मैं दीत्स लिखित लातीनी भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण से स्पेनी के व्याकरण तथा शब्द-विन्यास के नियम जान चुका था, इसलिए "मूर" के उत्कृष्ट पथप्रदर्शन और मेरे रुकने या लड़खड़ाने की सूरत में उनकी सतर्क सहायता से काम काफ़ी ठीक ढंग से चलता रहा। वे, जो वैसे तो इतने उतावले थे, पढ़ाने में कितने धैर्यवान थे! मिलनेवाले किसी व्यक्ति के आ जाने पर ही सबक़ का अन्त होता था। जब तक उन्होंने मुझे पर्याप्त योग्यता सम्पन्न नहीं समझ लिया, तब तक मुझसे रोज़ सवाल पूछते रहे और मुझे डॉन क्विक्ज़ोट अथवा अन्य किसी स्पेनी पुस्तक के अंश का अनुवाद करना पड़ता था।

मार्क्स अद्‌भुत भाषाविद् थे, यद्यपि प्राचीन भाषाओं से अधिक आधुनिक भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्हें ग्रिम के जर्मन व्याकरण का अधिकतम अचूक ज्ञान था। वे ग्रिम-बन्धुओं के शब्दकोश को मुझ भाषाविद् की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते थे। वे किसी अंग्रेज़ या फ़्रांसीसी की भाँति ही बढ़िया अंग्रेज़ी या फ़्रांसीसी लिख सकते थे यद्यपि उच्चारण इतना अच्छा नहीं था। न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून के लिए उनके लेख क्लासिकीय अंग्रेज़ी में और प्रूदों की 'दरिद्रता का दर्शन' के विरुद्ध उनकी कृति 'दर्शन की दरिद्रता' क्लासिकीय फ़्रांसीसी में लिखे गये थे। छपने से पहले यह दूसरी रचना उन्होंने जिस फ़्रांसीसी मित्र को दिखायी, उन्होंने उसमें बहुत ही कम काट-छाँट की।

चूँकि मार्क्स भाषा का मर्म समझते थे और उन्होंने उसके उद्‌गम, विकास तथा विन्यास का अध्ययन किया था, अत: उनके लिए भाषाएँ सीखना कठिन नहीं था। लन्दन में उन्होंने रूसी सीखी और क्रीमियाई युद्ध के दौरान तुर्की और अरबी सीखने का भी इरादा किया, लेकिन उसे पूरा नहीं कर सके। भाषा पर सचमुच अधिकार जमाने के आकांक्षी के अनुरूप ही, वे पठन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते थे। अच्छी स्मरण-शक्ति रखनेवाला व्यक्ति – और मार्क्स की स्मरण-शक्ति इतनी अद्‌भुत थी कि उन्हें कभी कुछ नहीं भूलता था – शीघ्र ही शब्द-भण्डार और पदविन्यास संचित कर लेता है। उसके बाद व्यावहारिक इस्तेमाल आसानी से सीखा जा सकता है।

मार्क्स ने 1850 और 1851 में राजनीतिक अर्थशास्त्र पर क्रमबद्ध रूप से कई व्याख्यान दिए। वे इसके लिए राज़ी तो नहीं थे, लेकिन

कम्युनिस्ट लीग के साथियों के साथ मार्क्स और एंगेल्स

चूँकि अपने कुछ निकटतम मित्रों के बीच निजी तौर से चन्द व्याख्यान दे चुके थे, इसलिए हमारे अनुरोध पर अधिक विस्तृत श्रोताओं के सामने भाषण करने को भी तैयार हो गये। उस व्याख्यान-माला में, जिसे सुननेवाले सभी सौभाग्यशाली श्रोताओं को अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ, मार्क्स ने अपनी मतपद्धति के उसूलों को ठीक वैसे ही विकसित किया, जैसे पूँजी में उसका स्पष्टीकरण किया गया है। उस समय तक ग्रेट विण्डमिल स्ट्रीट पर ही स्थित कम्युनिस्ट शिक्षा-समिति के खचाखच भरे हॉल में, उसी हॉल में, जहाँ डेढ़ साल पहले कम्युनिस्ट घोषणापत्र स्वीकृत किया गया था, मार्क्स ने ज्ञान-प्रचार की उल्लेखनीय प्रतिभा प्रदर्शित की। वे विज्ञान के भ्रष्टीकरण, अर्थात् उसके मिथ्यापन, निकृष्टीकरण और जड़ीकरण, के अनन्य विरोधी थे। अपने विचारों को स्पष्टत: अभिव्यक्त करने में उनसे अधिक समर्थ कोई नहीं था। कथन की स्पष्टता चिन्तन की स्पष्टता का फल होती है और स्पष्ट विचार अनिवार्यत: स्पष्ट अभिव्यक्ति का कारण होते हैं।

मार्क्स बहुत अच्छे ढंग से सिखाते थे। वे संक्षिप्ततम सम्भव रूप में किसी प्रस्थापना का निरूपण करते और फिर अधिकतम सावधानी के साथ मज़दूरों की समझ में न आनेवाली अभिव्यक्तियों से बचते हुए उसकी विस्तृत व्याख्या करते। उसके बाद अपने श्रोताओं को प्रश्न पूछने के लिए आमन्त्रित करते थे। अगर प्रश्न न पूछे जाते, तो वे जाँच करना शुरू कर देते और ऐसी शैक्षणिक निपुणता के साथ जाँच करते कि कोई ख़ामी, कोई ग़लतफ़हमी उनकी निगाह से बच नहीं रहती थी।

एक दिन इस निपुणता पर जब मैंने आश्चर्य प्रकट किया, तब मुझे बताया गया कि मार्क्स ब्रसेल्स की जर्मन मज़दूर समिति* में भी व्याख्यान दे चुके हैं। बहरहाल, उनमें श्रेष्ठ शिक्षक के सभी गुण मौजूद थे। शिक्षण में वे श्यामपट्ट का भी इस्तेमाल करते थे, जिस पर सूत्र लिख देते थे। उन सूत्रों में वे भी शामिल होते थे, जिन्हें हम सभी पूँजी के प्रारम्भिक पृष्ठों से ही जानते थे।

खेद की बात है कि व्याख्यान-माला केवल छह महीने अथवा उससे भी कम चली।

कम्युनिस्ट शिक्षा-समिति में ऐसे तत्त्व घुस आए, जिन्हें मार्क्स नापसन्द करते थे। उत्प्रवास की लहर के शान्त हो जाने पर समिति संकुचित हो गयी और उसने किसी क़दर संकीर्ण स्वरूप ग्रहण कर लिया। वाइटलिंग** और काबे*** के पुराने अनुयायियों ने फिर से सिर उठाया और मार्क्स उस समिति से अलग हो गये।

मार्क्स भाषा के मामले में हठधर्मिता की हद तक शुद्धतावादी थे। अपनी उत्तरी हेस्सी बोली के कारण, जो मुझसे त्वचा की भाँति चिपकी रही, अथवा मैं उससे चिपका रहा, मुझे अनेक बार उनकी खरी-खोटी सुननी पड़ी। मैं सिर्फ़ यह स्पष्ट करने के लिए इन छोटी-छोटी बातों का ज़िक्र कर रहा हूँ कि मार्क्स किस हद तक अपने को हम "नौजवानों" का शिक्षक समझते थे।

यह बात स्वभावत: दूसरे रूप में भी सामने आती थी : वे हमसे अत्यधिक का तक़ाज़ा करते थे। हमारी जानकारी में जैसे ही वे कोई कमी पाते, वैसे ही अत्यन्त ज़ोरदार ढंग से उसकी पूर्ति के लिए आग्रह करते और ऐसा करने के लिए आवश्यक सलाह भी देते। जो कोई भी उनके साथ अकेला रह जाता, उसकी बाक़ायदा परीक्षा लेने लगते और वे परीक्षाएँ कुछ खेल नहीं होती थीं। उनकी आँखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती थी। अगर किसी पर अपनी मेहनत बेकार जाती देखते, तो उसके साथ उनकी दोस्ती का अन्त हो जाता। उनकी "मास्टरी" में होना हमारे लिए गौरव की बात थी। मैं जब भी उनसे मिलता, अवश्य कुछ न कुछ सीखता...

उन दिनों ख़ुद मज़दूर वर्ग की एक नगण्य अल्पसंख्या ही समाजवाद के स्तर तक ऊपर उठी थी और समाजवादियों में भी मार्क्स की वैज्ञानिक शिक्षा के अर्थ में, कम्युनिस्ट घोषणापत्र के अर्थ में अल्पसंख्यक ही समाजवादी थे। अधिकतर मज़दूर, अगर वे राजनीतिक जीवन के प्रति कुछ जागरूक हुए भी थे, तो ऐसी भावुकतापूर्ण जनवादी आकांक्षाओं और लफ़्फ़ाज़ियों के कुहासे में फँसे हुए थे, जो 1848 के क्रान्तिकारी आन्दोलन, उसकी पूर्वपीठिका तथा परिणति के लिए चारित्रिक थीं। मार्क्स के लिए लोगों की शाबाशी और वाहवाही इस बात का सबूत होती थी कि आदमी ग़लत रास्ते पर है और दान्ते की यह गर्वोक्ति उनका प्रिय कथन थी: "Segui il tuo corso, elascia dirle gentil" ("तुम अपनी राह चलते चलो, लोग कुछ भी कहें, कहने दो!")

अक्सर वे उक्त पंक्तियों का हवाला देते थे, जिनके साथ उन्होंने पूँजी की भूमिका भी समाप्त की थी। चोट, धक्के, अथवा मच्छरों और खटमलों के काटने के प्रति कोई भी उदासीन नहीं रह सकता। फिर मार्क्स ने, जिन पर हर तरफ़ से हमले होते रहते थे, रोटी की चिन्ता ने जिनका सत निकाल लिया था, जिन्हें वे मेहनतकश ही सही तौर से नहीं समझते थे जिनकी आज़ादी की लड़ाई के लिए उन्होंने रात के सन्नाटों में हथियार गढ़े थे और जो कभी-कभी कोरे बातूनियों, मक्कार ग़द्दारों या खुले दुश्मनों तक का अनुगमन करते हुए उनकी उपेक्षा भी करते थे – उन मार्क्स ने अपने को साहस तथा नूतन उत्साह से अनुप्राणित करने के लिए उन फ़्लोरेन्सी

(पेज 15 पर जारी)

युवावस्था में लिखी मार्क्स की कविता

जीवन-लक्ष्य

कठिनाइयों से रीता जीवन
मेरे लिए नहीं,
नहीं, मेरे तूफ़ानी मन को यह स्वीकार नहीं।
मुझे तो चाहिए एक महान ऊँचा लक्ष्य
और, उसके लिए उम्रभर संघर्षों का अटूट क्रम।
ओ कला! तू खोल
मानवता की धरोहर, अपने अमूल्य कोषों के द्वार
मेरे लिए खोल!
अपनी प्रज्ञा और संवेगों के आलिंगन में
अखिल विश्व को बाँध लूँगा मैं!

आओ,
हम बीहड़ और कठिन सुदूर यात्रा पर चलें
आओ, क्योंकि –
छिछला, निरुद्देश्य और लक्ष्यहीन जीवन
हमें स्वीकार नहीं।
हम, ऊँघते, क़लम घिसते हुए
उत्पीड़न और लाचारी में नहीं जियेंगे।
हम – आकांक्षा, आक्रोश, आवेग और
अभिमान में जियेंगे!
असली इन्सान की तरह जियेंगे।

महापुरुष के उक्त शब्दों को अपने दैन्यपूर्ण, सही मानी में सर्वहारा अध्ययनकक्ष में कितना अक्सर मन ही मन दुहराया होगा!

उन्हें गुमराह नहीं किया जा सकता था। मार्क्स अलिफ़ लैला के शहज़ादे की तरह नहीं थे, जिसने विजय और उसके पुरस्कार को सिर्फ़ इस कारण खो दिया था कि वह अपने चारों तरफ़ के शोरशराबे और प्रेतछायाओं से भयभीत होकर बुज़दिली के साथ चौतरफ़ा देखता रह गया था। वे अपने उज्ज्वल लक्ष्य पर नज़र टिकाये हुए आगे बढ़ते गये...

वे वाहवाही से जितनी नफ़रत करते थे, वाहवाही के पीछे दौड़नेवालों पर उन्हें उतना ही ग़ुस्सा आता था। उन्हें लफ़्फ़ाज़ों से घृणा थी और अगर उनकी मौजूदगी में कोई लफ़्फ़ाज़ी के फेर में पड़ा तो उसकी तो शामत ही समझिए। ऐसे लोगों के प्रति वे निर्मम थे। उनकी ज़बान में "लफ़्फ़ाज़" सबसे बड़ी गाली थी और जिसे वे एकबार लफ़्फ़ाज़ कह देते थे, उसके साथ हमेशा के लिए सम्बन्ध तोड़ लेते थे। हम "नौजवानों" के सम्मुख वे "तार्किक चिन्तन और स्पष्ट अभिव्यक्ति" की आवश्यकता पर ज़ोर देते रहते थे और हमें अध्ययन के लिए मजबूर करते थे।

उस समय तक ब्रिटिश म्यूज़ियम का पुस्तकों के अपार भण्डारवाला शानदार वाचनालय निर्मित हो चुका था। मार्क्स वहाँ रोज़ जाते थे और हमसे भी जाने का तक़ाज़ा करते थे। "अध्ययन करो, अध्ययन करो" – यह था उनका दो टूक आदेश, जो हमें अक्सर सुनने को मिलता था और जो अपने महान मस्तिष्क के सतत कार्य की अपनी निजी मिसाल द्वारा भी वे हमें देते रहते थे।

दूसरे उत्प्रवासी जब हर दिन विश्व-क्रान्ति की योजनाएँ बनाया करते थे और "क्रान्ति कल शुरू हो जाएगी" – जैसे अफ़ीमी नारों से अपने को मदमस्त रखते थे, हम, "गन्धकी गिरोहिए", "डाकेजन", "मानवजाति की तलछट", ब्रिटिश म्यूज़ियम में अपना समय बिताते थे और अपने को शिक्षित करने तथा भविष्य की लड़ाई के लिए शस्त्रास्त्र तैयार करने की कोशिश करते थे।

कभी-कभी हमारे पास खाने को कुछ भी नहीं होता था, फिर भी हम म्यूज़ियम ज़रूर जाते थे। कारण कि वहाँ बैठने को आरामदेह कुर्सियाँ होती थीं और जाड़ों में वह स्थान हमारे घरों की तुलना में (जिनके अपने घर थे भी) अधिक गर्म तथा सुखद होता था।

मार्क्स कठोर शिक्षक थे। वे केवल हमसे अध्ययन करने का तक़ाज़ा ही नहीं, बल्कि इस बात की जाँच भी करते थे कि हम सचमुच अध्ययन करते हैं।

मैं बहुत अर्से तक ब्रिटिश ट्रेड-यूनियनों के इतिहास का अध्ययन करता रहा। वे हर रोज़ मुझसे पूछते कि मैं कहाँ तक पहुँचा हूँ और जब तक मैंने एक बड़ी सभा में एक लम्बी वक्तृता नहीं दे डाली, उन्होंने मुझे चैन नहीं लेने दिया। वे सभा में मौजूद थे। उन्होंने मेरी प्रशंसा नहीं की, लेकिन कड़ी आलोचना भी नहीं की। चूँकि प्रशंसा करने की उनकी आदत नहीं थी और करते भी थे तो केवल दया भाव से, इसलिए उनकी प्रशंसा के अभाव पर मैंने अपने मन को तसल्ली दे ली। फिर जब वे मेरी एक प्रस्थापना पर मुझसे बहस में उलझ गये, तो मैंने उसे अप्रत्यक्ष प्रशंसा ही समझा।

मार्क्स में शिक्षक का एक विरल गुण था : वे कठोर होते हुए भी हतोत्साहित नहीं करते थे। उनका दूसरा, उल्लेखनीय गुण यह था कि वे हमें आत्मालोचना के लिए बाध्य करते थे और हमारी उपलब्धियों से हमें आत्मतुष्ट नहीं होने देते थे। वे सारहीन चिन्तन पर अपनी व्यंगोक्तियों के निर्मम चाबुक बरसाते थे।

---

* **जर्मन मज़दूर समिति** – मज़दूरों के बीच राजनीतिक तथा वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के विचारों के प्रचार के हेतु अगस्त 1847 में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा ब्रसेल्स में स्थापित की गयी। फ़्रांस में 1848 की बुर्जुआ फ़रवरी क्रान्ति के शीघ्र ही बाद इसका अस्तित्व समाप्त हो गया।

** **विल्हेल्म वाइटलिंग** (1808-1871) – काल्पनिक समतावादी कम्युनिज़्म के एक सिद्धान्तकार।

*** **एत्येन काबे** (1788-1856) – काल्पनिक कम्युनिज़्म के विख्यात प्रतिनिधि, अमेरिका में कम्युनिस्ट बस्ती के संस्थापक।

मज़दूरों की ज़िन्दगी, उनके काम, उनकी समस्याओं के बारे में जानने और उन्हें अपनी मुक्ति के सही रास्ते के बारे में बताने के लिए मार्क्स नियमित रूप से आम मज़दूरों से बातचीत करते थे

डाक पंजीयनः SSP/LW/NP-319/2011-2013
प्रेषित डाकघरः आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथिः दिनांक 20 प्रत्येक माह

मज़दूरों के ख़ून से तर है पूँजीवादी मुनाफ़े का एक-एक सिक्का

(पेज 1 से आगे)

पूरा अख़बार इसी से भर जायेगा। किसी भी औद्योगिक इलाके से परिचित व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि छोटी-बड़ी दुर्घटनाएँ आये दिन होती ही रहती हैं।

नयी उभरती पूँजीवादी शक्तियों के तौर पर पेश किये जा रहे भारत, चीन, ब्राज़ील, इण्डोनेशिया, दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों की आर्थिक ताक़त का राज़ मज़दूरों का भयंकर शोषण है। हर जगह अन्धाधुन्ध मुनाफ़ा बटोरने की हवस में न्यूनतम सुरक्षा उपायों को भी ताक पर रखकर काम लिया जाता है। विकास के मॉडल के तौर पर पेश किये जा रहे चीन में हर साल केवल खदान दुर्घटनाओं में 5000 से अधिक मज़दूर मारे जाते हैं।

सरकारी आँकड़े बताते हैं कि भारत में हर साल दो लाख लोग औद्योगिक दुर्घटनाओं का शिकार होते हैं। मगर असलियत इससे कई गुना अधिक है। अधिकांश कारख़ानों में मज़दूरों का कोई रिकार्ड ही नहीं रखा जाता, दुर्घटनाएँ होती हैं और दबा दी जाती हैं। 'बिगुल' की ओर से दिल्ली के कुछ औद्योगिक इलाक़ों में होने वाली दुर्घटनाओं के बारे में राज्य सरकार और श्रम विभाग से आरटीआई के ज़रिये माँगी गयी जानकारियों के जवाब में दिल्ली सरकार और श्रम विभाग ने स्वीकार किया कि उनके पास राजधानी के कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों का कोई ब्योरा ही नहीं हैं। पुलिस और श्रम विभाग ने दुर्घटनाओं में मौतों के जो आँकड़े दिये उनसे दोगुने से ज़्यादा घटनाओं को उसी इलाक़े में 'बिगुल' के सर्वेक्षण में दर्ज किया जा चुका था। यह तो महज़ एक बानगी है। दिल्ली के पीरागढ़ी में पीवीसी चप्पल फैक्ट्री में लगी आग हो या तुगलकाबाद के एक कारख़ाने में हुआ हादसा, मालिकों और प्रशासन की मिली-भगत से मौतों को छिपाने के स्पष्ट साक्ष्य मौजूद हैं।

दुर्घटना नहीं, मुनाफ़े के लिए हत्याएँ

राना प्लाज़ा जैसे हादसों में मज़दूरों के क़त्लेआम के कारण इतने साफ़ हैं कि सोचकर सिहरन होती है। पूँजीपतियों के लिए सिर्फ़ एक चीज़ मायने रखती है – मुनाफ़ा और इसके नाम पर उनके लिए सबकुछ जायज़ है। काम की जगहों को सुरक्षित और स्वास्थ्यकर बनाने पर होने वाले खर्चे और बीच-बीच में मज़दूरों की जान गँवाने की तुलना की जाये तो दूसरा विकल्प हर तरह से कम खर्चीला है क्योंकि मज़दूर की ज़िन्दगी से सस्ती आज कोई चीज़ नहीं है। कारख़ाना मालिकों से लेकर उनके माल के अन्तरराष्ट्रीय ख़रीदारों तक के लिए इसमें सोचने की कोई बात ही नहीं है।

राना प्लाज़ा की इमारत तमाम सरकारी नियमों को धता बताकर जैसे-तैसे खड़ी कर दी गयी थी। बचे हुए मज़दूर बताते हैं कि भारी मशीनों के चलने पर उसकी दीवारें काँपती थीं। 23 अप्रैल को खम्भों, फर्श और दीवारों में दरारें पड़ जाने के बाद मज़दूरों ने काम करने से इंकार कर दिया था और बाहर निकल गये थे। लेकिन बाद में बिल्डिंग के मालिक

सुहैल राना ने कहा कि एक इंजीनियर ने जाँच करके बताया है कि बिल्डिंग को कुछ नहीं होगा और मज़दूरों को अगले दिन से काम पर आने का आदेश दिया गया। अगले दिन सुबह 8 बजे मज़दूर पहुँचे और एक घण्टे बाद ही पूरी इमारत लाशों के ढेर में बदल गयी। मज़दूरों के हालात से अनजान लोग मासूमियत से पूछ सकते हैं कि जब उन्हें पता था कि इमारत कमज़ोर है तो वे वापस काम पर गये ही क्यों? इसका कारण यह है कि बंगलादेश में गारमेण्ट उद्योग में दुनिया में शायद सबसे कम मज़दूरी मिलती है। ज़्यादातर मज़दूरों की कई सप्ताह की मज़दूरी बकाया थी और उन्हें धमकाया गया था कि अगर काम पर नहीं गये तोनिकाल दिया जायेगा। निकाले जाने के बाद बकाया मज़दूरी मिलने की बहुत कम उम्मीद रहती है। एक दिन काम पर न आने के लिए तीन दिन की मज़दूरी काट लेना आम बात है।

चीन और इटली के बाद बंगलादेश रेडीमेड कपड़ों का तीसरा सबसे बड़ा निर्यातक है। देश में 5,000 से भी अधिक गारमेण्ट फैक्टरियाँ हैं जिनमें करीब 36 लाख मज़दूर काम करते हैं। लेकिन 20 अरब डॉलर के इस उद्योग में काम करने के हालात बेहद ख़राब हैं। सरकारी भ्रष्टाचार, भयंकर बेरोज़गारी और लुटेरों की मददगार सरकारी नीतियों के कारण गारमेण्ट मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी सिर्फ 3000 टका (करीब 2100 रुपये) है। कहने की ज़रूरत नहीं, कि कई जगह यह भी नहीं मिलती। दुनियाभर में सस्ते श्रम की तलाश करने वाली मल्टीनेशनल कम्पनियों के लिए तो यह सोने की खान के समान है। बेनेटॉन, वाल्मार्ट, प्रीमार्क, गैप, रीबॉक, नाइकी, पियरे कार्डिन जैसी कम्पनियाँ यहीं अपने कपड़े बनवाती हैं जिन्हें दुनियाभर के फैशनेबल बाज़ारों में बेहद ऊँचे दामों पर बेचा जाता है। दुनियाभर के बड़े शहरों में इतराते फिरने वाले अमीरों के 'हाई फैशन' महँगे कपड़ों पर ग़रीब मज़दूरों के ख़ून के छींटे उन्हें भले न दिखते हों लेकिन गारमेण्ट मज़दूर जानते हैं कि उनका ख़ून निचोड़कर ही इन कपड़ों के रंग खिलते हैं। बार-बार होने वाली दुर्घटनाओं के बावजूद सुरक्षा मानकों और काम की स्थितियों में सुधार के बजाय दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आपस में गलाकाटू होड़ में उलझी हुई हैं। लगातार गहराते विश्व आर्थिक संकट के बीच उनमें लागत कम करने की होड़ मची हुई है। ऐसे में मज़दूरों की सुरक्षा पर कौन खर्चा करेगा? मुनाफे की अन्धी होड़ केवल एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका के ही मज़दूरों की ज़िन्दगी को ख़तरे में नहीं डाल रही है, इसका असर अब अमेरिका और यूरोप के विकसित पूँजीवादी देशों के मज़दूरों पर भी होने लगा है। वहाँ भी लागत कम करने के नाम पर सुरक्षा पर खर्च कम किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप दुर्घटनाओं में इज़ाफ़ा हुआ है।

कुछ समय पहले दक्षिण कोरिया की राजधानी सोल में काम के दौरान सुरक्षा और स्वास्थ्य विषय पर 18वीं विश्व कांग्रेस सम्पन्न हुई। इसकी रिपोर्ट के मुताबिक़ दुनियाभर में काम के दौरान होने वाली दुर्घटनाओं और बीमारियों के कारण 24 लाख कामगारों की हर वर्ष मौत हो जाती है। काम से सम्बन्धित मौतों की संख्या सड़क दुर्घटनाओं, युद्ध, एच.आई.वी.-एड्स और हिंसा जैसे किसी भी अन्य कारण से होने वाली मौतों से बहुत अधिक है। लेकिन ये आँकड़े स्थिति का पूरा चित्र नहीं प्रस्तुत करते। भारत में आज मज़दूरों की भारी आबादी असंगठित क्षेत्र में काम कर रही है और उनके बारे में ठीक-ठीक आँकड़े किसी के पास नहीं हैं। ज़्यादातर दिहाड़ी मज़दूरों का नाम किसी रजिस्टर में दर्ज ही नहीं होता है। वे एक प्रकार की अदृश्य आबादी हैं। जैसेकि निर्माण परियोजनाओं में काम करने वाले मज़दूर। कई जगह तो उनकी हालत बँधुआ मज़दूरों जैसी होती है क्योंकि महीनों तक उन्हें निर्माणस्थल की चारदीवारी से बाहर ही नहीं निकलने दिया जाता। मज़दूरों की पहचान उनके ठेकेदार से होती है और वही उनका सबकुछ होता है। ऐसी स्थिति में कितनी घटनाएँ दर्ज होती हैं और कितने मामलों में किसी भी तरह का कोई मुआवज़ा मिल पाता है यह कहना बेहद कठिन है।

मज़दूरों की सुरक्षा से

सम्बन्धित क़ानून बेहद लचर, अपर्याप्त और पुराने हैं। सरकार ख़ुद अपने बनाये क़ानूनों का भी पालन नहीं करती। अव्वलन तो बड़ी से बड़ी दुर्घटना पर भी मालिक और प्रबन्धन के ख़िलाफ़ कोई मामला नहीं बनता और अगर बनता भी है तो सज़ा इतनी मामूली होती है कि मालिक को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। आये दिन ब्वायलर फटने से मज़दूर मरते और घायल होते हैं। मगर क़ानून में इसकी सज़ा सिर्फ 100 रुपये का जुर्माना है। एक रिपोर्ट के मुताबिक़ कानपुर के चमड़ा उद्योग में काम करने वाले लगभग आधे से अधिक मज़दूर और अलीगढ़ के ताला उद्योग में काम करने वाले 75 प्रतिशत मज़दूर काम की ख़राब स्थितियों के कारण थोड़े समय के अन्दर बीमार पड़ जाते हैं। एस्बेस्टस का काम करने वाली फ़ैक्टरियों के मज़दूर, खदानों में काम करने वाले मज़दूर, चूना-भट्ठी और निर्माण उद्योग के मज़दूर लगातार मौत के साये में काम करते हैं। कुछ वर्ष पहले के एक आँकड़े के अनुसार सिर्फ़ उत्तर भारत में ही कृषि क्षेत्र में एक वर्ष में लगभग 170 लाख दुर्घटनाएँ हुई थीं और उनमें 53,000 लोगों की जान गयी थी। इसके अलावा मज़दूरों की एक भारी आबादी साँस की तक़लीफ़, चर्म रोग, आँख और कान के रोगों तथा हृदय के रोगों से पीड़ित रहती है। नींद पूरी न होने और आर्थिक तथा मानसिक उत्पीड़न के कारण ज़्यादातर मज़दूर जवानी में ही बूढ़े हो जाते हैं। सबसे बुरी और ख़तरनाक स्थितियों वाले काम बच्चों से करवाये जाते हैं और ये बच्चे जिन्हें बचपन का सुख नसीब नहीं होता जवान होने तक अनेक लाइलाज बीमारियों से ग्रस्त हो चुके होते हैं।

कारख़ानों में सुरक्षा उपायों आदि की जाँच के रहे-सहे इन्तज़ामों को भी ख़त्म किया जा रहा है। वर्ष 2005 में जापान जैसे छोटे से देश में जहाँ 3,000 फ़ैक्ट्री इंस्पेक्टर थे वहीं पूरे भारत में मात्र 300 फ़ैक्ट्री इंस्पेक्टर थे। और इनके भी होने का कोई ख़ास मतलब नहीं है। दिहाड़ी करके किसी तरह दो वक़्त की रोटी कमा लेने वाले मज़दूर मुआवज़े आदि के लिए थाना-कोर्ट-कचहरी के चक्कर नहीं लगा सकते और वैसे भी वहाँ से कुछ हासिल होने की उम्मीद नहीं होती। ज़्यादातर ट्रेड यूनियनों के नेता लड़कर मज़दूर का हक़ दिलाने के बजाय दलाली का काम करते हैं और कुछ ले-देकर मामले को रफ़ा-दफ़ा कर देते हैं।

पूँजीपतियों की निगाह में मज़दूरों की जान की कोई कीमत नहीं है, लेकिन मज़दूर अपनी ज़िन्दगी को ऐसे ही गँवाने के लिए तैयार नहीं हैं। काम पर सुरक्षा का पूरा बन्दोबस्त हमारे जीने के बुनियादी अधिकार से जुड़ा है। हमें इसके लिए संगठित होकर लड़ना होगा और साथ ही इस आदमख़ोर पूँजीवादी ढाँचे को भी नेस्तनाबूद करने की तैयारी करनी होगी।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006